जीवन यात्रा

जानकीदेवी बजाज



कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

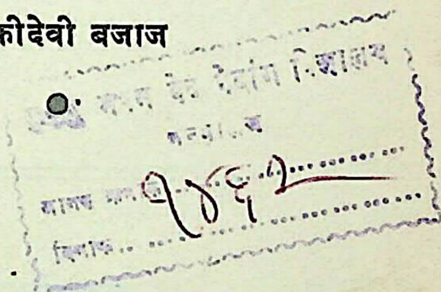


सत्साहित्य-प्रकाशन

मेरी जीवन-यात्रा

— जीवन-निर्माण की सरल, सुबोध एवं भावपूर्ण कहानी —

जानकीदेवी बजाज



प्रस्तावना
विनोबा

१९६५
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९६५
मूल्य
स... रुपये
संशोधित मूल्य... 3/50

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

२८२

प्रकाशकीय

जानकीमैयाजी (श्रीमती जानकीदेवी बजाज) अपने ये संस्मरण प्रसंगवश लोगों को सुनाती रहती थीं। श्री रिषभदासजी रांका को सूझा कि इनको लिपिबद्ध कर लिया जाय और वह इस काम में लग गए। मैयाजी सुनाती जाती थीं, वह लिखते जाते थे। उन्होंने जो कुछ लिखा, वह बापूजी, जमनालालजी तथा जानकीमैयाजी के सम्पर्क में आनेवाले कई लोगों के हाथों से निकला और इस रूप में आ गया। लिखते हुए रिषभदासजी ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि जहांतक हो भाषा, भाव तथा शब्दावली भी यथासंभव जानकीदेवीजी की ही रहे।

स्व० जमनालालजी गांधीजी के पांचवें पुत्र बने थे। दत्तक पुत्र बनना कितना कठिन होता है, यह जमनालालजी के जीवन से परिचित लोग भलीभांति जानते हैं, और ऐसे दत्तक पुत्र की पत्नी होना कितना कठिन रहा होगा, यह पाठक इस कथा से जान जायंगे। एक निरक्षर अबोध-बालिका के रूप में बजाज-परिवार में पहुंचकर नर्मदा के प्रवाह में पड़े कंकर की भांति वह कहां-से-कहां पहुंच गईं! उन्हीं अनुभवों, संस्मरणों एवं विचारों की यह कहानी है। जमनालालजी के संपर्क तथा बापूजी और विनोबाजी के सत्संग से किस प्रकार जीवन-परिवर्तन हुआ, संघर्षों से पैदा हुई परिस्थियों में उन्होंने कैसे अपनेको ढाला और कैसे अपनी दृढ़ता से औरों को प्रभावित किया, इसका बड़ा ही सजीव चित्र इन संस्मरणों में आ गया है। अबतक संस्मरण और आत्म-कथाएं बहुत-सी निकली हैं और निकलती रहती हैं, लेकिन इतनी सरल, सजीव तथा निश्छल आत्म-कथाएं कम ही देखने में आती हैं और हिन्दी में तो यह अपने ढंग की पहली चीज़ है।

इस जीवन-यात्रा में राजस्थानी सामाजिक सुधारों के साथ-साथ गांधी-युग के जीवन की भी झलक है। अकेले व्यक्ति के सुख-दुख को लेकर देशी-विदेशी भाषाओं में अनेक चरित्र लिखे गए हैं, लेकिन पूरे समाज की कहानी

देनेवाले इस-जैसे चरितों की संख्या अधिक नहीं है। इसे पढ़ने से बीते दिन चित्रवत सामने आ जाते हैं।

निषेधात्मक प्रयोगों जैसे 'न', 'नहीं' आदि के प्रति लेखिका का वैचारिक नहीं, पर मनोवैज्ञानिक विरोध रहा है। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक ऐसे संबोधनों को टाला है। पर सब जगह उससे बचना कठिन था। उनकी भावना यह है कि किसी चीज या किसी कार्य के लिए 'ना' कहना अस्वाभाविक है। ईश्वर की सृष्टि में परिपूर्णता है और 'ना' का निषेध है।

मैयाजी हिन्दू संस्कारों के अनुसार जमनालालजी को विशेषणों द्वारा ही संबोधित करने की आदी थीं, परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने के कारण तथा गांधीजी के सम्पर्क में आने के बाद जमनालालजी का नाम से भी संबोधन करने लग गई थीं। हिन्दू-स्त्री का पति का नाम लेकर संबोधन करना पुराने विचारों के लोगों को कुछ अटपटा और अस्वाभाविक लग सकता है,लेकिन जब कार्य का विस्तार होता है और सैकड़ों-हजारों व्यक्तियों से सम्पर्क आता है तो स्वाभाविक ही स्पष्टता की खातिर भी नाम का उपयोग अनिवार्यतः आवश्यक हो जाता है और उसमें जो एक स्वाभाविक संकोच रहता है, वह भी धीरे-धीरे हट जाता है। मैयाजी ने फिर भी इन संस्मरणों को सुनाते समय अधिकतर 'सेठजी', 'काकाजी' आदि का प्रयोग किया था, लेकिन एकरूपता की दृष्टि से सब जगह नाम का ही प्रयोग रखना उचित लगा।

हमें आशा है कि यह यात्रा पाठकों को पसंद आयगी।

—मंत्री

प्रस्तावना

जानकीदेवी ने अपनी इस किताव के लिए मुझसे प्रस्तावना मांगी तो मैं इन्कार नहीं कर सका। जमनालालजी के पूरे परिवार से मेरा काफी सम्बन्ध रहा है। इसका कोई श्रेय मुझे हासिल नहीं। जमनालालजी का आक्रमणकारी प्रेम ही इसके लिए जिम्मेदार है। खैर, जिम्मेदारी किसीकी हो, वह संबंध बन गया सो बन गया।

जानकीदेवी को जो भी विद्या मिली है, अनुभव से मिली है। इसमें पढ़ाई-लिखाई का ज्यादा अंश नहीं है। इसलिए उनकी यह कहानी बहुत ही सरल भाषा में कही गई है। यह लिखी नहीं गई है। जबानी कही गई है। इसलिए यह 'कहानी' है। और मैं मानता हूं, यह पारिवारिक वर्तुलों में रोचक भी होगी।

जानकीदेवी की एक विशेषता है कि अभीतक उनका बचपन कायम है। बात करने में उनको बहुत संकोच या हिचकिचाहट नहीं रहती। इस कहानी में भी उसका अनुभव आयगा। इस कारण उनका भाषण काफी असर डालता है। जमनालालजी को इतना वक्तृत्व नहीं सधता था। जानकीदेवी ने उसका एक बहुत ही सरल कारण बताया। वह बोलीं, " 'जैसा बोलो वैसा करो' यह एक नाहक का भूत जमनालालजी के पीछे लगा हुआ था। बोलने में कहीं अतिशयोक्ति न हो, इसकी उनको फिकर रहती थी। इसलिए वक्तृत्व उनकी वाणी से झरता ही नहीं था। हमको ऐसी कोई कैद नहीं, तो क्यों वक्तृत्व नहीं सधेगा ?" जमनालालजी की वृत्ति का जो विश्लेषण इसमें किया गया है, वह मार्मिक और यथार्थ है। इसकी ताईद सभी परिचित लोग करेंगे। लेकिन जानकीदेवी के भाषणों में जो निःसंकोच वृत्ति दीखती है, उसका कारण वास्तव में उनकी बाल-वृत्ति है। बोलने के अनुसार कृति करनी पड़ती है, इसका भान उनको भी है। किये हुए संकल्प के पीछे वह कितना एकाग्र हो सकती हैं, इसका खयाल १०८ कूप-दान-पत्रों का जो जिक्र उन्होंने किया है, उसपर से आ सकता है।

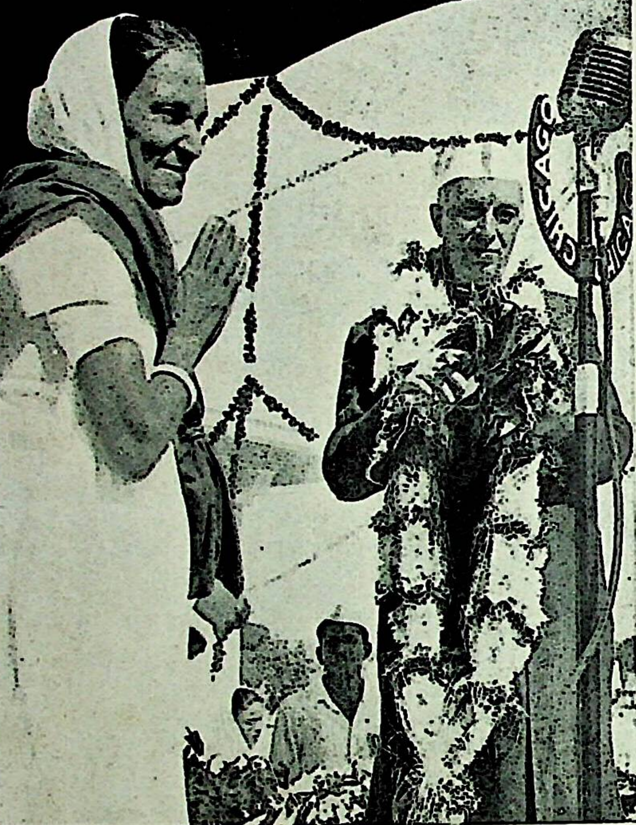
भूदान-यज्ञ में उन्होंने जो विशेष पराक्रम किया है, उसका जिक्र इस कहानी में नहीं है। पाठकों से वह बात छिपी नहीं रहनी चाहिए। बिहार की भूदान-यात्रा खत्म करके हम बंगाल में प्रवेश कर रहे थे, उस दिन जानकीदेवी हमारे साथ थीं। भीड़ बहुत थी, जिनमें लड़कों की भी बड़ी तादाद थी। भीड़ में से मार्ग निकालने के लिए मैंने लड़कों के हाथ पकड़-कर दौड़ना शुरू किया। बुजुर्ग लोग पीछे रह गए। लड़कों के साथ हम दौड़ते हुए आगे चले गए। मुझे खयाल न रहा कि ६२ साल की एक बालिका भी लड़कों के साथ दौड़ती आ रही है। दौड़ते-दौड़ते वह गिर पड़ीं। उनके घुटने में चोट आई। दर्द शुरू हुआ, जो कम-वेसी आजतक जारी है। अब वह दौड़ तो क्या सकेंगी, पर ज्यादा चल भी नहीं सकतीं। पर उनका मन दौड़ता ही रहता है।

परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि जानकीदेवी की यह बालवृत्ति अंततक कायम रहे और हम सबको उसका स्पर्श हो।

पोचमपल्ली
३०-१-१९५६

विनोबा

विषय-सूची



गो-सेवा संघ की ओर से लेखिका द्वारा
प्रधान मंत्री नेहरूजी का स्वागत

मेरी जीवन-यात्रा

: १ :

कुटुम्ब-पाल

मेरे पिताजी का नाम गिरधारीलालजी था। उनका वर्ण गोरा था। वह ऊँची घुटनों तक की धोती पहनते थे। कसूम्बी रंग की पगड़ी बांधते थे। वह लाल रंग को शुद्ध मानते थे, इसलिए धोती की किनारी भी लाल ही उन्हें अच्छी लगती थी। किनारी बारीक नक्सी की होती थी। कानों में सोने की मुरकियां पहनते। मूछें रखना धार्मिक दृष्टि से वर्जित समझते थे। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में दूध, पानी या खाने की वस्तुओं से बालों का स्पर्श होना अशुद्ध माना जाता है। वे बगलबन्दी पहनते थे, जो पूरी बांहों की होती थी। जब वह बैठे होते, तब बड़े भव्य लगते थे। शरीर भी स्वस्थ था। ८९ साल की उमर तक वह बराबर पैदल ही मंदिर जाते रहे। उनका रास्ते-चलते हाथ जोड़कर नमस्कार करना याद आता है। वह मुंह से पहले 'नारायण' ही उच्चारण करते थे, क्योंकि श्रीवैष्णवों की साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार मुंह से बोलते समय सदा प्रथम 'नारायण' का ही उच्चारण हो, ऐसा रिवाज़-सा था। शायद इसके पीछे 'नारायण' के स्मरण की या सबकुछ नारायण का ही है, ऐसी समर्पण की भावना रही हो। यह भी कि क्या पता मृत्यु कब आ जाय, इसलिए मुख से 'नारायण' शब्द ही निकलता रहे ताकि अंत समय भी नारायण ही निकले। वे यही कहते कि 'नारायण के सब ठीक है न ?' 'नारायण के फल लेनो है', 'नारायण के भोग चढ़ाणो है।' उन्हें लोग सत्पुरुष, दुखियों के सखा और कुटुम्ब-पाल मानते थे।

किसीसे मिलते ही वह उसके सुख-दुःख की बात पूछते। मालूम होता कि किसी लड़की का विवाह है, कोई घर में कार्य-प्रयोजन है, तो पूछते—"नारायण के के सलुको है ?" वह बोलता—"दादाजी, सो-एक रुपया की तो तजवीज है पण…" वह समझ जाते कि इसे सौ-पचास की ज़रूरत है, सो झट एकाध बोरी अनाज और कुछ रुपये भिजवा देते। रुपये वह मुट्ठी-भरकर दे देते थे। हमारे यहां रुपये के बदरे (जाली की थैलियां) मचान पर धरे रहते थे। रुपयों को वज़न से ही प्रायः तोलते थे। सहायता पानेवालों में ब्राह्मण, बनिये, किसान, मजदूर, हिन्दू, मुसलमान सभी रहते।

धार्मिक नियमों के पालन में वह कट्टर थे, पर उनमें सेवा-सहायता के बारे में समान भाव रखते थे। वह श्रीरामानुज या श्रीविष्णु सम्प्रदाय के थे। हमारे यहां श्रीविष्णु भगवान की पूजा होती थी, जिन्हें व्यंकटेश, बालाजी अथवा वेणीगोपालजी भी कहा जाता है। व्यंकटेशजी के साथ रुक्मिणी और सत्यभामा की मूर्तियां भी रहती थीं। घर में धार्मिक वातावरण था और छुआछूत भी बहुत रहता था। चिड़िया के घुस जाने से चौका धोया जाता था। मक्खी से बचने के लिए परदा रखा जाता था। बाल-बच्चोंवाली स्त्रियों का परिहंडा (पानी रखने का स्थान) अलग रहता था। रसोई उस परिहंडे के पानी से बनाई जाती थी, जिसमें ब्राह्मण नहाकर और रेशमी या सणिये की गीली धोती पहनकर पानी भरता था। इसी पानी से बनी रसोई से ठाकुरजी को भोग लगाया जाता था। नल के पानी से परहेज़ किया जाता था। मंदिर जाते समय रास्ते में अगर नल के पानी का छींटा भी लग जाता तो स्नान करना होता था। मंदिर जाते समय ठीकरी चिन्धी आदि चीज़ों पर पैर न पड़ जाय, इसका पूरा ध्यान रखा जाता था। पापड़ केले के पेड़ के रस से बनाये जाते थे। बड़ी (मुंगोड़ी) की दाल ब्राह्मण ही पीसते और तोड़ते।

घर पर तो शालिग्रामजी की पूजा होती थी और भोग भी चढ़ता था, पर दर्शन-पूजन के लिए मंदिर भी जाते थे—खासकर एकादशी के दिन जब व्यंकटेशजी, रुक्मिणी और सत्यभामा की स्वर्ण-मंडित मूर्तियों का दूध-दही से अभिषेक होता था। मुझपर इस अभिषेक का बहुत प्रभाव पड़ता

था। मैं भक्तिसे गद्गद होकर देखती रहती। माता-पिता के यहां भगवान की पूजा का जो रिवाज़ था, अब भी वही चला आ रहा है।

मैं मां के प्रभाव से एकादशी का व्रत रखने लगी और खर्च के लिए मिले पैसे मंदिर में बैठे ब्राह्मणों को एक-एक, दो-दो पैसा करके दक्षिणा भी दिया करती। एक दिन मैंने शालिग्रामजी की पूजा करनेवाले पुजारीजी से पूछा कि किस नाम का जप करने से भगवान प्रसन्न होते हैं? उन्होंने 'ॐ नमो नारायणाय' का जप करने के लिए कहा। मैं छत पर जाकर यह जप किया करती। मैंने सुना था, माला फेरने या जाप की बात दूसरे को मालूम होने से पुण्य घट जाता है, इसलिए मैं यह जाप चुपचाप ही करती। भला काम चुपचाप करना ही ठीक है—यह संस्कार मुझमें बचपन से ऐसा जम गया कि अपने किये भले काम दूसरे से कहना या उसके प्रचार से मुझे अरुचि हो गई।

कुटुम्बियों को मदद पहुंचाना या उनकी देख-भाल करना पिताजी अपना कर्तव्य मानते थे। हमारे कुटुम्ब के एक दूर के भाई हमेशा पिताजी पर मामला-मुकदमा करके उन्हें तकलीफ देते रहते थे। पर पिताजी उनके बाल-बच्चों को कोई कष्ट न हो, इसका सदा ख़याल रखते। बाज़ार में फल खरीदते तो उसमेंसे कुछ उनके यहां भेज देते। कहते—"गोपाल तो कमाई करे कोनी, कोरट-कचेरी करतो फिरे। टाबर के खासी? जा भाई बीकें छीकें पर रख आ।"

कुटुम्बवालों को निभाना उनका स्वभाव ही बन गया था। हमारे ताऊ के लड़के साथ ही रहते थे। उनके बहुत-से बाल-बच्चे थे। मेरे पिताजी की ग्यारह सन्तानें पहले चल बसी थीं। हम तीनों भाई-बहन बुढ़ापे में हुए थे। पिताजी ही सब-कुछ करते थे। ताऊजी के बाल-बच्चों में से किसी-न-किसी के शादी-ब्याह हुआ ही करते। जब मेरे ब्याह का समय आया तब गांव की औरतों ने आकर मेरी मां से कहा—"दादीजी, जानीबाई को ब्याह आयो है, सो गेणा-कपड़ा कइयां का कराश्यो?" मेरी मां बोली—"ज्युं ओरा के हुया वीश्याई इब के हो जासी।" उन्होंने कहा—"बांके तो खरचा होताई रेवे। थारे तो या एक ही है, दादीजी!" तब मेरी मां पिताजी से कहती—"जानकी के तांई गेणो-कपड़ो कांई कराश्यो।" पिताज़ी कहते—"औरां

के हुया जिश्या हो जासी।" तो मां कहती—"औरां के रोज ही हुवे, आपणे तो या एक ही है।" इसपर वह कहते—"वांको वांके नसीव को लागे। वांको नांव क्युं लेवो, थांने जो कुछ करणो है, सो वता दो।"

इस तरह कुटुम्बवालों में प्रेम-भाव वनाये रखने में भेद-भाव को उत्तेजना न मिले, इसका खयाल रखते थे। जैसा प्रसंग आया, काम कर लिया, पर मन में ईर्ष्या न आये, यह उनका प्रयत्न रहता था। और उन्होंने अन्त तक अपने कुटुम्ब को निभाया।

हमारे यहां जो मुनीम, गुमाश्ते, नौकर-चाकर थे, उनको पिताजी ने कुटुम्ब का ही वना लिया था। वह उनके सुख-दुःख का खयाल रखते थे। इनमें पंडित-ब्राह्मण ज्यादा रहते थे, पर और जाति के लोग भी रहते थे। मुसलमान नौकर भी थे। उनके प्रति भी आदर का भाव ही होता था। हां, छुआछूत इनके साथ चलती तो वे ध्यान रखकर ही चलते थे, पर उससे न किसीको बुरा मालूम पड़ता था और न आत्मीयता में ही कोई कमी होती थी। घर में जो चीज़ वनती, उन्हें दी जाती। पत्तल पर खाने में भी आदर ही समझते।

एक वार देस (लक्ष्मणगढ़-राजस्थान) में किसी शादी में हमारे घर की औरतें हनुमानजी के मंदिर में दर्शन को चली गईं। उनकी निगाह स्त्रियों पर पड़ गई तो एकेश्वरवादी होने के नाते नाराज़ हुए।

हम लोग जवारा रहते थे। वह मुसलमानी राज था। पर राज में पिताजी का वड़ा मान था। हमारे घर शादी-व्याह में राज के वरदीवाले वाजे आया करते और लक्ष्मणगढ़ में भी हमारे घर के लोगों के साथ जाते। लक्ष्मणगढ़ में जव जावरा-राज के वरदीधारी वाजेवाले आते तो लोग उनको देखने उमड़ पड़ते थे।

पिताजी का जीवन सव तरह से ऊंचा ही रहा। व्यापार उनकी साख थी और वह जवतक रहे, तवतक धन-धान्य से भरे-पूरे रहे। उनका यह स्वभाव-सा हो गया था कि थोड़ा-बहुत मुनाफा मिलता, तभी वह माल वेच देते, ज्यादा लोभ में न पड़ते।

उनका अफीम का व्यवसाय था। खेतों से अफीम के रस के घड़े-के-घड़े भरकर आते। कुछ दिनों रखे रहने के वाद उस रस को वड़ी-वड़ी परातों

में मथा जाता और फिर लड्डू जैसे गोले बनाये जाते। इसे अफीम की गोटियां कहते थे। कोठों में लाखों की अफीम भरी रहती थी।

कहावत है कि लोभ गला कटाता है। पिताजी के बाद घर के लोगों को प्राय: घाटा ही उठाना पड़ा, क्योंकि वे उनकी नीति को भूल गये। थोड़े नफे में सन्तोष माननेवाले को जोखम कम उठानी पड़ती है और वह लाभ में ही रहता है। उनके जीवन में कुटुम्ब की स्थिति सभी दृष्टि से अच्छी रही।

विवाह के बाद जब मैं ससुराल जाने लगी तब पिताजी ने कहा था—"बेटी, तू पराये घर जा रही है। वहां अच्छी तरह रहना। ज्यादा न बोलना। कोई चार बार कहे तो एक बार बोलना।"

जैसा उनका जीवन भव्य रहा वैसी ही उनकी मृत्यु भी। जिस दिन उनका स्वर्गवास हुआ, ग्यारह बजे तक चिट्ठियां लिखते रहे। फिर नहाकर धोती पहन रहे थे कि उनको चक्कर आ गया। कमरे में आये और लेट गये। लोग इकट्ठे हो गये। डाक्टरों को बुलाया गया। इन्दौर से भी डाक्टर बुलाये गए, पर कुछ भी फायदा न हुआ। शाम को सात बजे उनका देहान्त हुआ। कहते हैं, उनका प्राण ब्रह्मरंध्र में से निकला। सिर ऊपर से फट गया था और खून गिरा। ऐसी मृत्यु किसी योगी या महापुरुष की होती है, ऐसा कहा जाता है।

उस समय मेरी आयु दस-ग्यारह साल की थी।

: २ :

गोगली गाय

मेरी मां को घर तथा पास-पड़ोस के लोग 'गोगली गाय' कहते थे। 'गोगली गाय' नामक एक काला जन्तु होता है, जिसके पैर पेट में होते हैं और जो बड़ा मुलायम होता है। 'गोगली' शब्द मारवाड़ी भाषा का है। इसका अर्थ है शांत तथा मधुर।

किसी नौकर को कष्ट होगा, यह सोचकर मां प्रायः स्वयं ही काम कर लिया करती थीं। किसी काम में हाथ घिरे हों और दियावत्ती का समय हो जाता तो वह कहतीं—"अरे भाई, बैठ्यो रे, हाथ तो धोणा ही है, मैं ही दियाबत्ती कर लेस्यूं।" रसोई ऊपर बनती थी और परिहंडा नीचे था। इसलिए पानी नीचे से ऊपर ले जाना पड़ता था। यह काम प्रायः नौकर ही करते थे। यदि मां को ऊपर जाना होता तो वह स्वयं ही पानी ले आती और कह देतीं—"रेणे दे रे, मैं ही ले आस्यूं, मने आणों तो है ही।" नौकर-चाकर को अगर कभी ठोकर लग जाती तो वह उसके पट्टी बांधतीं, उसे आराम करने को कहतीं। मुसलिम रियासत का गांव होने से हमारे यहां मुसलमानों का भी आना-जाना रहता ही था। कई मुसलमान नौकर भी थे। परिवार से संबंधित बूढ़े नौकर-चाकर, पंडित-पुरोहित और पास-पड़ोसी सबके प्रति मां का बरताव बड़ा प्रेम-भरा और दयालुता का होता था। सरदी के मौसम में वह गोंद तथा मेथी के लड्डू बनाकर रखती थीं और इन बूढ़ों को दिया करती थीं। सुबह पांच बजे विस्तर पर ही दे आतीं, और किसी-किसी के तो घर पर भी पहुंचा देतीं। मां के इस स्वभाव के कारण कुटुम्बी लोग कहा करते थे—"दादीजी के पास रहे हुए आदमी का दूसरी जगह निभना कठिन है।" नौकरों से तथा चौका-वरतन, माथा-चोटी करने आने-वाली नेवगण (नाइन) तक से वह 'जी' कहकर ही बोलती थीं और हम

लोगों को भी ऐसा ही बोलना सिखाती थीं।

बिना किसी धर्म या जाति-भेद के वह बीमारों को दवा दिया करती थीं। मिट्टी के तेल के आड़े कटे कनस्तर में जंगली जड़ी-बूटियां तथा सोंठ, काली मिरच, दालचीनी, लौंग, पीपल, मुलेठी, जायफल, अजवाइन आदि चीज़ों की छोटी-छोटी कोथलियाँ (थैलियाँ) बनाकर रखती थीं। जब किसीकी बीमारी की बात सुनतीं या कोई बुलाने आता तब वह अपने उस कनस्तर से दवा निकालकर देतीं। लोगों को मां की दवा पर श्रद्धा और विश्वास रहता था।

सीने-पिरोने का तो मां को व्यसन ही था। सिलाई तथा पटवा-काम (जेवर गूँथने के काम) में वह बहुत होशियार थीं। किसीके यहाँ ब्याह-शादी होती, मुकलावा (गौना) होता, जन्म आदि होता तो वह कपड़े सी देतीं, गोटा-किनारी लगा देतीं, उनकी चोटियाँ बना देतीं। लोगों की सिलाई का काम उनकी छावड़ी (टोकनी) में पड़ा ही रहता। रात-दिन कुछ-न-कुछ सिलाई चलती ही रहती। यह देखकर कभी-कभी घर के लोग कह देते—"दादीजी, यह सब क्यों करती रहती हो?" वह कहतीं—"भाई, ईमें म्हारे हाथ को कांई बिगड़े है, सिलाणैवाला का चार-आठ आना तो बच जासी।"

इसी तरह तीज-त्योहार पर कोई चीज़ बनती तो नौकर-चाकरों तथा पास-पड़ोस में पहुंचा आतीं। कोई अफीम मांगने आता तो अफीम दे देतीं, अनाज और वस्त्र भी देती रहतीं। एक प्रकार से वह सबके काम आती थीं।

मां के भोलेपन की एक घटना तो बड़ी मज़ेदार है। एक बार लक्ष्मण-गढ़ से जावरा लौट रहे थे। रास्ते में किसी कुएं पर खाने के लिए ठहरे, खाना-पीना होने पर मां मेरे बदले दूसरे ही बालक को गोद में उठाकर चल दीं। साथवालों ने मुझे अकेले देखकर उठा लिया और मां से जाकर पूछा, "दादीजी, जानीबाई कठह?" उसने कहा—"या है ना म्हारे कनै" पर इतना कहते-न-कहते वह सकपकाकर बोलीं, "अरे भाई, मैं कुआं पर ही भूल आई, बा कुआं में तो नी पड़गी?" और यह कहकर कुएं की ओर चलने लगीं। पर साथवालों ने मां की गोद में मुझे दे दिया। उस समय मैं कोई दो-ढाई वर्ष की रही होऊंगी।

जब मैं चार वर्ष की हुई, तब मेरे माता (चेचक) निकल आई। मुझसे

एक बड़े भाई थे और एक छोटे। मैं बीच की थी। हम तीनों में दो-ढाई वर्ष का अन्तर था। उस समय टीका लगाने का रिवाज कम था। बच्चों को दर्द न हो इसलिए माताएं उन्हें टीका लगवाने से बचाती रहती थीं। माता की बीमारी को शीतला माता मानकर पूजने का रिवाज था, जो अब भी चल रहा है। होली के बाद की सप्तमी को माता पूजते हैं। इसीको "बास्योड़ा" कहते हैं। मेरे दोनों भाइयों को टीका लगवा दिया गया था। मैं ही न मालूम कैसे बच गई थी, जिससे मुझे लगभग चार महीने तक यह बीमारी भोगनी पड़ी।

मुझे याद है कि माता निकलने पर मुझे गाय के नोहरे (गाय बांधने के स्थान) में बोरी या टाट पर अरने–कंडे की राख बिछाकर सुलाया जाता था। गाय के मूत्र, गोबर आदि की गन्ध से चेचक की तेजी शायद कम होती होगी। मां मेरे शरीर पर राख बुरकती रहती थीं। मुझे पीड़ा होती थी या नहीं, यह याद नहीं पड़ता। पर मां ने मेरी खूब देख-भाल की थी। चार महीने तक वह रात-दिन मेरे पास बैठी रही थीं। छाछ मुझे बहुत पसंद थी। लेकिन माता में खटाई दी नहीं जाती। माताजी पानी में सफेद रंग डालकर देतीं तभी मैं रोटी खाती। गाय की छाछ के प्रति अब भी मेरा वैसा ही अनुराग है।

कई बार जब गली में खेलने में देर हो जाती तब माताजी डांटती थीं—कई बार मार भी देती थीं।

उस समय के रिवाज़ के अनुसार माताजी भी पति को भगवान मान-कर उनकी आज्ञा हमेशा मानती थीं।

मैं पहले ही सांवली थी, फिर इस बीमारी से रंग और गहरा हो गया। चेचक के दाग चेहरे पर उभर आये। शायद इसी कारण मैंने माता-पिता और कुटुम्बवालों का अधिक प्यार पाया। यों भी बहुत-से बच्चों के पहले ही चले जाने के कारण मैं लाड़ली थी, फिर उस बीमारी के कारण मुझे और भी सहानुभूति प्राप्त हुई।

: ३ :

'रूप की तरसै करम की खाय'

मेरी उमर कोई चारेक साल की थी। माता की बीमारी से उठी ही थी। मुंह पर चेचक के दाग उभर आये थे। पर बीमारी के बाद की सार-सम्हाल से कुछ मोटी हो गई थी। इसी समय वर्धा से मुझे देखने के लिए एक ब्राह्मण आये। उनका नाम भानीरामजी था।

उस समय लड़का-लड़की देखने का काम ब्राह्मण या नाई ही करते थे। नाई तथा ब्राह्मणों पर समाज विश्वास रखता था। वे भी समाज के एक उपयोगी अंग माने जाते थे। इनके साथ पारवारिक व्यक्तियों का-सा व्यवहार होता था।

भानीरामजी मुझे देखने सेठ बच्छराजजी के यहां से आये थ। इसलिए उनका खूब स्वागत किया गया होगा। पिताजी के यहां धन भले ही कम रहा हो, पर रहन-सहन रईसी और नवाबी था। इस ठाट-बाट और रहन-सहन का समाज में बहुत प्रभाव था।

भानीरामजी स्वयं बहुत होशियार थे। उन्होंने वर्धा जाकर कहा होगा—"खानदान बहुत अच्छा है, धार्मिक है। लड़की सांवली है, मोटी है, अभी-अभी माता की बीमारी से उठी है, सो मुंह पर चेचक के दाग हैं। पर बड़ी होने पर शायद दाग भर जायंगे," वगैरा। इन शब्दों में मेरी प्रशंसा कहां थी, पर भानीरामजी ने यह बात कुछ ऐसे ढंग से कही होगी कि बच्छराजजी के परिवार का झुकाव बढ़ गया। बच्छराजजी की पत्नी सद्दीबाईजी भरेपूरे खानदान और धार्मिक वातावरण की बात सुनकर संबंध करने को राजी हो गईं। बच्छराजजी के यहां संतान की ओछत थी। एक तो संतान होती ही नहीं थी और गोद लेते तो उसकी अकाल मृत्यु हो जाती थी या वह पागल हो जाती थी। मेरी सास (रामधनदासजी की बाल-विधवा

पत्नी) ने अपनी सास (सद्दीवाईजी) से कहा—"आपणो टाबर गोरो और सोवणो है, तो बहू भी सोवणी ही लाइयो।"

सद्दीवाईजी ने कहा—"बेटी, आपां सोवणी तो घणी ही हां, पर टाबरां ने तो तरसां ही हां। थारां मामीजी (बिरधीचंदजी पोद्दार की मां) ने ही देखो, वे कठै सोवणा है, पण सात रतन दिया है। आपांणै तो इशी लड़की चायजै जो कुटुम्ब बढ़ावे। रूप में कांई पड्यो है।"

उसी समय जमनालालजी के जन्म के पिता कनीरामजी सीकर से वर्धा आ रहे थे। उनको भी जावरा उतरकर लड़की (मुझे) देख आने के लिए वर्धा से लिखा गया था। वह भी जावरा आये और मुझे देख गये।

पहले के लोग रूप की अपेक्षा खानदान को अधिक महत्त्व देते थे। माता-पिता जो संवंध कर देते, वही पक्का माना जाता था। कनीरामजी ने अपने लड़के-लड़कियों के संवंध भी खानदान तथा आदमी देखकर किये थे। इसलिए मेरे लड़के तो कभी-कभी उनसे कहा करते थे—"दादाजी, आपने चुन-चुनकर कैसी जोड़ियां मिलाई हैं!" क्योंकि कुछ संयोग ही ऐसा हो गया कि वर्धा और सीकर के कुटुम्ब में आदमी तो सुंदर और सोवणे थे, लेकिन लड़कियां सब मेरे जैसी ही आईं। लेकिन आज तो ऐसे संवंध होना प्रायः कठिन ही हैं। प्रत्येक लड़के की इच्छा रहती है कि वह स्वयं भले ही कुरूप हो, पर उसकी पत्नी तो सुंदरी ही होनी चाहिए।

माता-पिता तथा भाई-वन्धुओं में भी सगाई के वारे में विचार-विमर्श तो हुआ ही होगा। हमारी धार्मिक मान्यता वर्धावालों से भिन्न थी। जावरावाले वर्धावालों को 'घोग्या' कहते थे। राजस्थान के जो लोग दक्षिण की तरफ आ गये थे और जिनके रहन-सहन तथा खान-पान पर दक्षिण-निवासियों का असर पड़ गया, उन्हें 'घोग्या' कहा जाता था। राजस्थान और मालवा के लोग इनको कुछ हलकी नज़र से देखते थे। पर वर्धावाले सम्पन्न थे, लड़का सुन्दर था और इधर मैं सांवली तथा चेचक के दाग-वाली थी। इसलिए उन्होंने सोचा होगा कि भले ही वर्धावाले 'घोग्या' हों, हैं तो धनवान; इसलिए सम्बन्ध तो कर ही लेना चाहिए।

सगाई के वाद वहुत-सा जेवर मेरे लिए वर्धा से आया। गहना ठोस सोने का था। पर इतने सारे गहनों को देखकर मेरे भाई-वन्धुओं ने कहा—

"सोनो तो टोकरी भर है, पण ढंग को तो एक भी गेणो कोनी।" मेरी भतीजी के पति मजाक में कहा करते थे—"कढ़ी में काले को छांटो लाग्यो।" पहले-पहल तो मैं इस मजाक को योंही समझती रही, पर बाद में जाकर मालूम हुआ कि उनका मतलब यह था कि सोना तो बहुत आया, पर पहननेवाली तो ऐसी है !

मुझे अपने रूप के कारण किसीसे मिलने में भी संकोच होता था, यहां-तक कि मुझे कांच में भी अपना मुंह देखने में संकोच होता था।

जमनालालजी के महाराष्ट्रीय साथियों को तो अवतक अचरज है कि उन्होंने मेरे साथ विवाह की स्वीकृति कैसे दे दी। महाराष्ट्र में वर-वधू एक-दूसरे को देखकर ही प्रायः स्वीकृति देते हैं, इसलिए उन्हें अचरज होना स्वाभाविक ही था। एक समय, जब जमनालालजी के सेक्रेटरी श्री महादेवलाल सराफ से वजाजवाडी में किसीने कहा कि हमें सेठानीजी के दर्शन करने हैं, तव उन्होंने मजाक में कह दिया—"इस घर में जाइये और जो सबसे 'सुन्दर' दिखाई पड़े उसे ही सेठानीजी समझ लीजिये।" श्री महादेवलाल विलायत से नये-नये ही लौटे थे। मैंने उनसे मजाक में कहा—"अभी तो जनाब की आंखें आसमान में हैं। देखना तुम्हारे लिए भी कोई मेरे जैसी ही बहन बैठी होगी !" मैं क्या जानती थी कि मेरी बात सच ही निकल जायगी !

जो हो, मेरे लिए तो राजस्थान की यह लोकोक्ति ही चरितार्थ हुई—

रूप की तरसै करम की खाय,
रूप की धिराणी पाणी भरवा जाय।

और मुझे 'करम की खानेवाली' बनाने में पूज्य सद्दीवाईजी का आशीर्वाद ही समझना चाहिए।

इसे मैं भगवान का उपकार ही मानती हूं कि मैं रूपवान होने से बची। सम्पन्न परिवार, जमनालालजी-जैसे सुन्दर पति तथा सब प्रकार की अनुकूलताओं को पाकर भी 'रूप' के कारण मैं अहंकार में डूबने से बची। मुझमें जो सादगी आई, धर्म-ध्यान करने की रुचि बढ़ी, उसमें शायद मेरी कुरूपता भी एक कारण रही हो।

: ४ :

'कागद कीयां बोले ?'

मैं कोई छः-सात बरस की थी। एक दिन पिताजी के हाथ में एक कागद था, जिसे वे मां को पढ़कर सुना रहे थे। कागद लम्बा था और चौड़ा कम। पहले ऐसी ही चिट्ठियां लिखी जाती थीं। 'चिट्ठी' के लिए 'कागद' शब्द का ही इस्तेमाल होता था। पिताजी कह रहे थे कि कनीराम ने यह लिखा है, वह लिखा है। मुझे यह देखकर अचरज हुआ। मैं रह-रहकर कभी पिताजी की तरफ और कभी मां की तरफ देखती। मैं विचार में पड़ गई कि यह कागद कैसे बोलता है। मेरा अचरज बढ़ता ही गया। मेरे लिए यह नई बात थी। मैंने मन-ही-मन सोचा कि मैं भी सीखूंगी कि कागद कैसे बोलता है।

दूसरे दिन पट्टी-कलम लेकर मैं जोशीजी के यहां पहुंची। देस में पढ़ानेवालों को जोशीजी कहते थे। मैंने उनसे कहा कि "कागद कीयां बोले सो मनैं बताओ ?" (कागद कैसे बोलता है, यह मुझे बताओ ?) वे मेरी समस्या को समझ गये और क ख ग घ ङ, ये पांच अक्षर पट्टी पर लिखकर दे दिये और कहा कि इसको घोखना। मुझे मानो मनमांगी चीज मिल गई। मैं तो अपनी बाल-बुद्धि के अनुसार यही समझती थी कि कागद में भगवान बोलते हैं। जोशीजी के लिखे अक्षरों को मैं मन लगाकर घोखने लगी।

जोशीजी के यहां से अक्षरों को लेकर जब मैं घर लौटी, दूकान के चौतरे पर पिताजी ने मेरे हाथ में पट्टी-कलम देखकर कहा—"बेटाजी, आज कठे गया था पाटी-कलम लेकर ?" मैंने हलके-हलके हँसकर पट्टी के अक्षर बता दिये। मुझे तो अक्षर घोखने की ही धुन थी। मैं मन-ही-मन सोचने लगी कि मैं जो काकाजी बोलती हूं, उसका 'क' यही है। पिताजी

मेरा उत्साह देखकर मां से बोले—"एजी, अब तो बाई के ताईं जोशीजी राखणों पड़सी।" और उन्होंने मेरी पढ़ाई की व्यवस्था कर दी। धीरे-धीरे मैं बारह-खड़ी सीख गई और थोड़ा-बहुत टूटा-फूटा पढ़ने भी लगी।

मैं मां के साथ मन्दिर तो जाती ही थी। पूजा-पाठ, कथावाचन में भी उनके साथ रहती थी। पण्डितजी से मैंने विष्णु-सहस्रनाम सीखना शुरू कर दिया। अर्थ तो क्या समझती; पर टूटे-फूटे उच्चारणों में पाठ करना शुरू कर दिया। सहस्रनाम सीखने पर तो मानो मुझे भगवान मिल गए। भगवान के एक हजार नाम लेना मेरे लिए कोई छोटी बात थोड़े ही थी! मैं सुबह-शाम सहस्रनाम का पाठ करके भोजन करने में धर्म मानती।

तेरह-चौदह वर्ष की उमर में मुझे थोड़ा-थोड़ा पढ़ना आ गया था। उससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। मुझे यह भी लगा कि हर स्त्री को पढ़ना आना चाहिए। ससुराल में मैंने अपनी ननद और देवरानियों को पढ़ाना शुरू किया। गांव की और लड़कियां भी पढ़ने को मेरे पास आने लगीं। हमारे यहां 'हंतकार'[1] लेने के लिए जो ब्राह्मणकन्या आती थी, उसे मैं अक्षर-ज्ञान कराने लगी और साथ ही सीना-पिरोना भी सिखाने लगी। उसकी देखा-देखी दूसरी लड़कियां भी आने लगी थीं।

आज जब मैं उस समय की अपनी पढ़ाई का, भावना का और दूसरों को पढ़ाने का विचार करती हूं तब मुझे हर्ष भी होता है और हंसी भी आती है। हर्ष तो इसलिए कि चालीस-पचास वर्ष पहले, जब स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में कोई खास झुकाव नहीं था तब मैं थोड़ा-बहुत पढ़-पढ़ा सकी और हँसी इसलिए आती है कि मेरा अक्षर-ज्ञान टूटा-फूटा था, फिर भी मैं पढ़ाने लगी।

मेरे माता-पिता नये घर में रहने गये थे। वहां कोठे (कमरे) में मुझे एक भंडारिया दिया गया। भंडारिया दीवार में लगी छोटी-सी आलमारी

---

१ चौके में जो रसोई बनती है, उसमें से एक व्यक्ति का भोजन ब्राह्मण को दिया जाता है, उसे 'हंतकार' कहते हैं। आजकल तो यह प्रथा बन्द-सी हो गई है।

को कहते हैं। वह खेल-खिलौने रखने के लिए था। मेरी इच्छा उसमें भगवान का चित्र लगाने की थी। इसलिए मैंने उसमें एक कील ठोंकी। मां ने मुझे देख लिया, उसने अत्यन्त करुण मुद्रा में मुझसे कहा—"ए बाई, यो खीलो क्यू ठोक्यो, चूना की भीत में खरुट उतर जासी न।" ये शब्द इतने करुण स्वर से कहे कि मेरे हृदय पर अंकित हो गये। मैं समझने लगी कि दीवार और लकड़ी को भी दुःख होता है। तबसे कहीं भी किसीको कील ठोंकते देखती तो मुझे ऐसा लगता, मानो मेरी छाती में कील ठोंकी जा रही है। आज भी ऐसा ही लगता है।

: ५ :

मेरा विवाह

वर्धा से विवाह के लिए पत्र आने लगे। इस समय मैं कोई साढ़े आठ वर्ष की होऊंगी। वर्धावालों का कहना था कि उनके परिवार में यह एक ही विवाह है और इसके लिए जमनालालजी की विधवा मां का, घर में अकेली होने के कारण, विशेष आग्रह था। पिताजी और माताजी में भी चर्चा हुई। पिताजी सरल स्वभाव के थे और सबका मन रखते थे। उन्होंने मां से कहा—"बाई तो छोटी है, पण काई करां, एक तो वर्धावालां को आग्रह है और सास्तर में भी तो 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी' लिख्यो है।"

पिताजी ने वर्धावालों की बात मान ली।

विवाह का निश्चय होने पर हम सब लोग वर्धा आ गये। घर के लोगों के सिवा नाई, ब्राह्मण, नौकर-चाकर आदि सब मिलाकर अन्दाजन पचास आदमी होंगे। वर्धा में जाजोदिया कुटुम्ब के श्री दत्तूरामजी रहते थे। दत्तूरामजी का बच्छराजजी के यहां आना-जाना था। हम लोगों की सारी व्यवस्था एक प्रकार से दत्तूरामजी ने ही की थी।

भारतीयों में विवाह के समय पीठी लगाने की प्रथा है। विवाह के पहले नाइन पीठी लगाती है। शरीर पर तेल, जौ-गेहूँ का आटा, हलदी आदि का उबटन लगाने को पीठी कहते हैं। इससे शरीर मुलायम होता, मैल छूटता और कान्ति आती है। ऐसी पीठी कई दिन तक लगाई जाती है।

वर की गोद भरने का भी रिवाज है। विवाह के पहले जमनालालजी की गोद भरी गई थी। इस दस्तूर के लिए वह अपने साथियों के साथ मंडप में आये थे। उनके हमारे यहां आने पर औरतों या बहू-बेटियों में बात होने लगी—"बींद तो भोत सोवणो है, जाणे गुलाब को फूल।" शायद मुझसे भी किसीने कहा। उस समय किवाड़ कुछ ढीले होते थे। मुझे याद पड़ता

है कि उसी समय मैंने किवाड़ में से उनको एक नज़र देख लिया था। उनकी गोद भरी गई। उसमें फल, नक़द आदि के अलावा पांचों कपड़े होते थे। कोट-टोपी की मखमल पर सलमे-सितारे का काम था। उस समय समाज में मखमल, खीनखाब तथा जरी के कपड़ों का रिवाज़ था। चांदी के खिलौने भी थे।

विवाह के समय बींद हाथी पर बैठकर तोरण मारने आये थे। हौदे पर वर के साथ उनके पिता तथा दो भाई बैठे थे। लोगों ने कहा कि चारों जने भाई-से ही दीखते हैं। रात के लगन थे। मुझे फेरे के लिए नींद में ही कपड़े पहनाकर पाटे पर लाकर बैठा दिया गया था।

बरात के समय वर-पक्ष के लोगों द्वारा वर के ऊपर से पैसे की उछाल करने का रिवाज़ था। वर पक्षवालों के ऐसा करने पर लड़कीवाले हाथ पकड़ लेते—यानी अब बस करो। लेकिन क्योंकि वे लोग हाथी पर बैठे थे—अतः उनका हाथ नहीं रोका जा सका। जब मंडप खोला गया तो मज़दूरों को उसमें भी कई रुपये-पैसे मिले।

फेरे के समय कन्या को बिना धुला कोरा सफेद कपड़ा तथा कच्चे सूत की मोली से सींकर लहँगा तथा चादर ओढ़ा दिया जाता था और उसपर सवा गज कसूंवल कपड़े से घूंघट निकाला जाता था। जेवर या जरी के कपड़े आदि फेरे के बाद पहनाये जाते थे। फेरे के समय कन्या के कान में एकाध माशा सोने की नली और बाएं हाथ में चार-छः माशा चांदी की पतरी दोनों तरफ छेद करके कच्चे सूत से बांध दी जाती थी। पाणिग्रहण-संस्कार कैसे हुआ, इससे मैं बेखबर ही रही। आठ-नौ बरस की उमर की मैं क्या जानती कि फेरे क्या होते हैं।

विवाह खूब ठाट-बाट से हुआ। वर-पक्ष की ओर महफ़िल सजाई गई। नाचने-गानेवाली भगतणें भी बुलाई गई थीं। बच्छराजजी के वंश में यह विवाह महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने अपने पोते के विवाह में दिल खोलकर खर्च किया। आतिशबाजी भी खूब छोड़ी गई।

फेरे के बाद मुझे प्रथा के अनुसार सारे जेवर पहनाये गए। विवाह घूंघट में ही हुआ था। यह आजसे पचास वर्ष पहले की बात है। उस समय की अपनी स्थिति तथा आज की सामाजिक स्थिति पर विचार करती हूं तो

दो विरोधी चित्र मेरी आंखों के सामने खड़े हो जाते हैं। आज जिन प्रथाओं को हम कुरीतियां कहते हैं, उस समय वे रिवाज अच्छे समझे जाते थे।

विवाह के बाद वधू के आने पर 'रतजगा' की प्रथा थी, जिसमें रात-भर देवी-देवताओं के गीत गाये जाते थे। वर-वधू से देवी-देवता की धोक दिलाई जाती थी। उसी समय वधू की मुंह-दिखाई होती थी। हम दोनों को एक कमरे में बन्द कर दिया गया। स्त्रियां किवाड़ों की चीर में से देखती रहीं। नेग के लिए पांचसौ रुपये की थैली रख दी गई थी और जमनालालजी से कहा गया था कि मुंह देखकर रुपया दे देना। वह कमरे में चुपचाप बैठे रहे। उन्होंने एक रुपया उसमेंसे बजाकर थैली में वापस डाल दिया। जब बाहर की स्त्रियों ने देखा कि दोनों बिलकुल चुपचाप बैठे हैं, तब दरवाज़ा खोल दिया। मैं स्वयं तो नासमझ थी ही, पर वह भी शरम की मूर्ति ही थे।

एक बात का अफ़सोस मुझे आज भी रह-रहकर होता है; वह यह कि पूज्य सद्दीबाईजी मेरे विवाह के दो साल पहले ही इस संसार से विदा हो चुकी थीं। उनके आशीर्वाद से मेरी सगाई उनके पोते के साथ हुई थी और वह चाहती थीं कि पोते की बहू का मुंह देख लें। पर मैं उनके पैर पकड़कर आशीर्वाद नहीं ले सकी।

: ६ :

विवाह कैसे छूटे ?

विवाह के बाद मैं माता-पिता के साथ जावरा गई। पर जल्दी ही वर्धा से पत्र आने लगे कि बीनणी (बहू) को भेजो। बच्छराजजी के यहां गणगौर पूजी जाती थी। उनके यहां कोई लड़की का अभाव था, इसलिए गांव की दस-पन्द्रह लड़कियों को बुलाकर पन्द्रह रोज तक गणगौर पूजी जाती थी। चैत सुदी तीज के दिन गणगौर यानी शिव-पार्वती की मूर्तियों को सजाकर निकाला जाता है। वर्धा में बड़ा घर होने से हमारे यहां से गणगौर निकाली जाती थी। विवाह के बाद पहले वर्ष गणगौर की पूजा वधू को करनी पड़ती है। जमनालालजी की मां की यह स्वाभाविक इच्छा थी कि इसके लिए बहू को बुलायें। मेरे माता-पिता तो रामानुज संप्रदाय के एकेश्वरवादी थे। वे विचार में पड़ गये कि "आपां तो एक भगवान का उपासक हां, उठे तो बाई नैं गणगौर पूजनी पड़सी।" पर बच्छराजजी की इच्छा का खयाल कर पिताजी ने मुझे वर्धा भेज दिया। मेरे साथ एक नेवगण आई थी। उसके शरीर पर भी बहुत सारे गहने थे। फरक इतना था कि मैं सोने के गहने पहने थी और वह चांदी के।

ससुराल में मेरा यह पहला ही आना था। मुझपर माता-पिता के धार्मिक संस्कार की छाप थी। मैंने जब यहां देखा कि टोंटी का पानी पिया जाता है, तब मुझे बहुत खेद हुआ। वहां तो टोंटी के पानी का छींटा लगने से स्नान करना पड़ता था और उसे यहां पीते थे। पानी भरनेवाला जाट था। पहले तो मैं उसे कोई ब्राह्मण ही समझी, पर बाद में पता चला कि वह तो जाट है, तो मुझपर तो मानो घड़ों पानी पड़ गया। यहां तो धर्म ही डूब गया। मैंने मन-ही-मन सोचा कि मां के पास जाकर पंचगव्य लूंगी और फिर टोंटी का पानी कभी नहीं पीऊंगी।

यहां का खान-पान भी जाजोदियों-जैसा स्वादिष्ट कहां था। खान-पान में तुअर (अरहर) की दाल तो मुझे भाती थी, बाकी खाते समय जावरा की याद आती रहती थी।

जावरा में तो मैं खुली थी, आजाद थी, इधर-उधर खेलती-कूदती रहती थी, पर यहां तो घूंघट में बैठी रहती। मुझे ऐसा लगता था कि कहां मसोसी गई हूं। पिताजी ने मुझे बच्छराजजी के आग्रह पर गणगौर की पूजा के लिए पन्द्रह रोज के लिए भेजा था। पर फिर तारा लग जाने से ढाई महीने तक रहना पड़ेगा, ऐसा बच्छराजजी ने पिताजी को लिख दिया। अब तो मुझे वर्षा पल-पल भारी लगने लगा। मैं सोचने लगी—"हे भगवान, मेरा ब्याह कैसे छूटे ?" मैं मन मारकर रहने लगी। मन में रोना आता था, पर आंखों में आंसुओं को रोके रहती थी। अगर किसीको मालूम हो गया तो क्या बताऊंगी, यह भी डर था। मैं नौ-दस वर्ष की बच्ची क्या जानूं कि विवाह भी कहीं छूटता है। मैं तो यही प्रार्थना करती कि किसी तरह मेरा ब्याह छूट जाय। 'ब्याह कैसे छूटे' उस समय के ये शब्द भी कितने विकारहीन थे। और इसलिए मैं संतोष कर लेती हूं कि सरलता या विकारहीन विचार निर्दोष ही हैं, जबकि आज मैं समझती हूं कि किसी समझदार भारतीय नारी के मुंह से ऐसे शब्द निकलना कितना कठिन है।

लेकिन इन्हीं दिनों एक घटना हो गई। जमनालालजी की उमर कोई तेरह वर्ष की होगी, फिर भी उनकी मां के मन में लाड़-प्यार और नेग-दस्तूर करने की इच्छा रहती ही थी। मारवाड़ी-समाज में यह एक रिवाज था कि विवाह के बाद वर-वधू को एक स्थान पर सुलाया जाय। इसमें उमर का विशेष खयाल नहीं किया जाता था। जमनालालजी अपने दादा बच्छराजजी के साथ ही सोते थे। बुढ़ापे में प्यार विशेष रहता है। जमनालालजी गोद के लड़के थे, सुन्दर थे, इसलिए उनपर बच्छराजजी का प्यार रहना स्वाभाविक था।

एक दिन जमनालालजी की माताजी ने नौकर से कहकर हम दोनों को एक कमरे में सुलाने का विचार किया। मुझे उस कमरे में सोने के लिए भेज दिया गया। मैं बच्ची ही तो थी। जाते ही सो गई। मेरे पास नेवगण

बैठी रही। जमनालालजी सदा की भांति अपने दादा के साथ सोये थे। उनकी मां मन-ही-मन अधीर और बेचैन हो रही थी। वह जमनालालजी को किसी तरह बुलाना चाहती थीं। पर उनकी हिम्मत कैसे होती। अन्त में उन्होंने अपने नौकर से कहा—"अरे खेता, जमन नें बुला।" वह आये। उनके मेरे कमरे में आते ही नेवगण बाहर निकल गईं और बाहर से कुन्डा लगा दिया गया।

मैं तो भर नींद में थी। उन्होंने शायद मेरे पैर में चिकोटी काटी। यह बात तो उन्होंने किसीके सिखाने से ही की होगी, क्योंकि वह स्वयं तो बहुत लजीले थे। मैं जागी और चौंक पड़ी। मैंने जमनालालजी को विवाह से पहले किवाड़ की आड़ से ही एक बार देखा था। मैं घबराई कि यह कौन बालकटी लड़की मेरे साथ सोई है—नेवगण मुझे दिखाई न दी। मैं भी चुप और वह भी चुप। मैं उठी और जोर-जोर से किवाड़ खटखटाने लगी। आवाज़ बच्छराजजी तक पहुंची और उन्होंने जमनालालजी को पास न देखकर समझ लिया कि हो-न-हो यह सब जमन की मां ने करवाया होगा। वे गुस्से होकर गालियां बकने लगे। बोले—"छोरी नै दुख देवा के तांई बुलाई है ?" डर के मारे सास ने किवाड़ खोल दिये और नेवगण भीतर आ गई। इसके बाद जितने दिनों तक मैं ससुराल रही, यह खेल यहीं खतम हो गया।

कुछ दिनों बाद होली आई। होली के दूसरे दिन को 'छारंडी' कहते हैं। उस दिन रंग खेला जाता है। नये वर-वधू को भी आपस में रंग खेलने के लिए कहा जाता है। यह एक मौज-शौक का दिन होता है। मेरी सासूजी हम दोनों का रंग खेलना देखना चाहती थीं। उन्होंने रंग के बरतन भराकर रख दिये। हम दोनों को बुलवाया। जमनालालजी के हाथ में पिचकारी दी गई और मेरे हाथ में गिलास। हम दोनों आमने-सामने कोई आठ-दस गज की दूरी पर खड़े थे। दोनों में से कौन रंग उछाले। दोनों चुपचाप पत्थर की मूर्ति की तरह खड़े रहे। सासूजी हम दोनों से बार-बार कहतीं, पर हम तो जैसे चेतना-शून्य हो गये थे। सासूजी जमनालालजी से कहतीं—"अरे, एक पिचकारी तो छोड़ दे!" और मुझसे कहतीं—"तू ही एक

गिलास उछालकर शगुन कर दे।" पर मेरी स्थिति तो ऐसी थी, मानो फांसी के तख्ते पर लटके हुए आदमी से लड्डू खाने के लिए आग्रह करना। रंग छोड़ना तो रह गया और मन में यही लगी रही कि कब सासूजी की आज्ञा हो और बन्धन छूटे।

: ७ :

सास की मृत्यु

ढाई महीने ससुराल रहकर भाई के साथ मैं जावरा लौट आई। भाई से जाते समय ससुरालवालों ने जल्दी भेजने के लिए कह दिया था। इधर मैं जावरा पहुंची और उधर फिर पत्र आने शुरू हो गये कि बीनणी को लेने के लिए आदमी भेजते हैं। इससे घरभर में चर्चा शुरू हो गई कि 'बाई ने क्यांका छोड़े है, बाइ नै लेणै ताईं आदमी आसी। दादी सुसरा बूढ़ा है, सो बोले है कि मैं मर जाऊं तो म्हारे हाथ कियां लागै। घर में सासु बालविधवा एकली है। घर में देखण नै कांई है?' ऐसी चर्चा सुनकर मैं तो सुन्न रह जाती। मुझे कुछ भी सूझ न पड़ता था कि क्या बोलू। मेरी हालत वैसी ही थी, जैसे जेल से छूटे हुए उस कैदी की होती है, जिसके हाथ में नया वारण्ट होता है। छूटने का आनन्द तो उसे होता है, पर वारण्ट देखकर जी धक्-धक् भी करने लगता है। मैंने सोचा कि जानकीमंगल और मोरध्वज की कथा सीख लेनी चाहिए, सासरे में कौन सिखायगा। विष्णु-सहस्रनाम का एक-एक श्लोक कागज पर लिखकर शुद्ध पाठ करने की कोशिश करने लगी। श्लोकवाले कागज के टुकड़े को गोज्या (जेब) में रखती। मन्दिर जाते समय रास्ते में उसे देखती और फिर गोज्या में रख लेती, यहांतक कि पाखाने में भी घोखती रहती। मेरे मन में यही डर बना रहता था कि कौन जाने कब ससुराल चला जाना पड़ेगा, इसलिए जितना हो सके सीख लूं। मां भी कहती कि 'टावर वठै कुणस्यू बोलसी?' टांका (सीना-पिरोना) तथा कलावत्तू काढ़ने आदि सीखने का भी मुझे बड़ा शौक था। एक दिन मैं घर से कपड़ों की कुछ कतरनें पड़ोसिन के यहां ले गई। उससे एक गुड़िया की अंगी और कुरता सिलवाकर खुशी-खुशी घर आई। मां देखकर बोली—"बाई, टांको तो मैं घणो ही सिखा देस्यूं, सीखसी तो।" मुझे कपड़ों पर,

हाथ पर मेंहदी से या दीवार पर मोर मांडने का बड़ा चाव रहा है। अब भी जहां मोर के पंख देखती हूं, उन्हें बटोर लेती हूं। यह काम करते समय भी मुंह से घोखना चलता ही रहता। रसोई के बारे में मां कहती रहतीं—"रसोई भी लुगाई नै सीखणी तो चाये, पण एक तो छोटी है, दूसरां आपणे अठै विरामण (ब्राह्मण) पड़दै में रसोई करै, छुआछूत को विचार है और वठै भी रसोइया है।" दोनों जगह रसोइया होने से मैं रसोई कैसे सीखती ! इस काम में मैं कच्ची ही रह गई। चूल्हा जलाने, बरतन मलने और झाड़ू लगाने से मुझे परहेज-सा ही रहा।

अन्त में ससुराल से मुझे लेने के वास्ते आ ही गये। मैं सोई हुई थी। मां मेरे पास आकर सो गई और प्यार से हाथ फेरते हुए कहने लगी—"जानी, तने लेणेवाला तो आगा।" मैंने तो सुन लिया, पर आंख बन्द किये चुपचाप पड़ी रही। मानो मैं तो निर्जीव पत्थर की मूर्ति बन गई थी। मेरा जी भीतर-ही-भीतर घुटने लगा।

मां मेरी बिदाई की तैयारी करने लगीं। सिर धुलाया गया, माथा गूंथा गया और मेंहदी लगाई गई। मारवाड़ियों में माथा गूंथने का रिवाज़ था। एक बार का गूंथा माथा आठ-दस दिन चलता है। बालों में मेण लगाकर मीढ़ियां बनाई जातीं और सोने का बोर बांधा जाता था। पीछे तीन फुट की ऊन की आंटी रहती थी। दूसरी स्त्री की सहायता से ही माथा गूथा जाता था। माथा प्रायः नेवगणें ही गूँथती थीं। धीरे-धीरे यह प्रथा कम होती जा रही है।

घर की स्त्रियां चर्चा करतीं—"राधा तो बिचारी विधवा होगी। वा तो अठे ही पड़ी रेवै। बीनै कुण बुलावै।" ये शब्द मेरे मन में ठस गए। बचपन में मां की ओर आकर्षण होता ही है। ससुराल मुझे जेल जैसा लगता था। मैं मां के निकट रहना चाहती थी। मैंने देखा कि राधा विधवा होने से यहीं रहती है। मैं भी विधवा होती तो मां के पास रह सकती। पर विधवा होना मेरे हाथ में थोड़ा था ! उस समय मां के पास रहने का आनन्द ही मैं जानती थी। विधवापन किसको कहते हैं, इसे मैं थोड़े ही जानती थी ?

दुबारा ससुराल आने पर सासूजी मेरे बड़े लाड़-चाव करने लगीं। मेरे लिए वह तरह-तरह के गहने बनवातीं, बम्बई से मोती तथा कपड़े मंग-

वातीं। गोटा-किनारी भी खरीदतीं। वर्धा से जो भी आदमी वम्बई जाता वह बच्छराजजी से मिलकर ही जाता, उसके साथ सामान मंगाने की फेहरिस्त जाती। मेरी सासूजी बम्बई के सामान में माथे पर लगाने की टीकियां, मोर, सूये भी मंगाया करती थीं। उन्हें इसका बड़ा शौक था। वह तो गुजर गईं। पर मुझे अपने वालपन के कारण उन्हीं टीकियों का खयाल रहा और रात को उन्हीं टीकियों का ख्याल करते-करते कि वे वहां रखी हैं, मैं सो गई। मुझे सपना आया कि नीचे कोठे में टीन की पेटी है, जिसमें गोटा-किनारी रखते हैं, उसीमें छोटी-सी कपड़े की पोटली में पड़ी है। पर सपने को सपना ही समझकर मैं भूल गई। पर जब चार-पांच बरस बाद केशरबाई के ब्याह के समय कोठा खोला गया तब मुझे खयाल आया कि यह तो वही कोठा है जिसका सपना आया था। पेटी खोलकर देखी तो गोटा-किनारी से भरी है और एक कोने में छोटी-सी पोटली में टीकियां पड़ी हैं।

मां से मैंने थोड़ा-बहुत सीना-पिरोना सीख लिया था, इससे सासूजी बहुत खुश रहतीं। दस वरस की बहू सीना-पिरोना जाने, यह सासूजी के लिए खुशी की बात थी।

उसी समय वर्धा में प्लेग फैल गया। वच्छराजजी सपरिवार अपने बगीचे में रहने के लिए चले गए। आज जहां मगनवाड़ी है, वहीं उनका बगीचा था। वहां कई झोंपड़िया खड़ी की गईं और गांव के जान-पहचान-वाले और सम्बन्धित लोगों को भी रहने के लिए बुला लिया गया। बगीचे में जाने के तीसरे दिन ही सासूजी को प्लेग हो गया और वह चल बसीं।

अब क्या किया जाय ? बच्छराजजी गांव के मुखिया थे। दूरदर्शी और व्यावहारिक थे। जिन लोगों को उन्होंने बगीचे में रहने को बुलाया था, उन्हें हटाना तो अच्छा नहीं लगा, इसलिए खुद वहां से हमको लेकर पुलगांव चले गए। वहां उनकी दूकान थी।

मैं दस वरस की बच्ची ही थी ! मेरा मन यहां क्या लगता ! और, अब तो सासूजी भी चल बसीं। रह-रहकर मुझे मां की और ज्यादा याद आने लगी। इधर जो स्त्रियां बैठने—शोक प्रकट करने—आतीं, वे मुझसे कहतीं—"पल्लो लिया कर", "सासूजी-सासूजी कहकर रोजे।" मारवाड़ी समाज में पल्ला लेने की प्रथा है। मौत के बाद दस-बारह दिन तक और

बाद में भी जब कोई स्त्री-पुरुष 'बैठने' आते हैं, तब घर की स्त्रियां मरे हुए का नाम लेकर रोती हैं। न रोने पर टीका-टिप्पणी भी होती है। शोक में औरतें गोटा-किनारी के तथा नये कपड़े की जगह सादे कपड़े पहनती हैं और बैठने आनेवाली स्त्रियां भी सादे वस्त्र पहनकर आती हैं। इस रोने की बात से मेरा मन और दुःखी हो गया। परिवार की महिलाएं बार-बार कहतीं कि 'पल्लो ले'। मेरे मन में जो दुःख था, उसे मैं रोकर कैसे प्रकट करती ? मैं दस बरस की बच्ची क्या जानूं कि रिवाज़ का रोना क्या होता है ! मैं तो यह सोचने लगी कि किसी तरह मां के पास पहुंच जाऊं तो सब दुःख दूर हो जायं।

इधर मेरे पैर में नारू (एक प्रकार का फोड़ा) निकल आया। तकलीफ बढ़ने लगी। मेरे पीहरवाले चिन्ता में पड़ गये कि मेरा अकेली का वहां मन कैसे लगता होगा ? वर्धा में मेरे पास दूसरी कौन है, जो मुझे धीरज दे, मुझपर प्रेम प्रकट करे ! वे मुझे बुलाना चाहते थे। मेरे भाई मुझे लिवाने आये। पर बच्छराजजी रखना चाहते थे। उन्होंने कहा—"साहाजी, सब बात करणां, पर छोकरी नै ले जाणे की बात भूल जाओ।" और दो-चार गालियां भी सुना दीं। बोले—"मैं गोद क्यों लाया ? मैं मरूंगा, तब बेटा-बहू का हाथ लगना ही चाहिए।" बच्छराजजी के इस तरह के दो-टूक जवाब से भाई निराश हो गये। पहले तो बच्छराजजी ने मेरे भाई को खूब गालियां सुना दीं, फिर राजी भी कर लिया। बोले—"साहाजी, मेरी गाली तो घी की नाली है।" पर भाई को चैन कहां ? वह तो यही सोच रहे थे कि बहन को कैसे ले जाऊं। लेकिन बच्छराजजी के सामने भाई की क्या चलती और वह लौट गये।

नारू के निकलने से मेरा पैर सूज गया। उसमें चटखे चलने लगे। बच्छराजजी बम्बई से डाक्टर बुलाना चाहते थे। वह भी बहुत चिन्तित थे। मेरी यह हालत हो गई थी कि नौकर गोदी में उठाकर पाखाने के पास बिठा जाते थे। इस हालत में भी मैं मां के पास जाने को तड़पती रहती। पीड़ा में पीहर की याद और तीव्र हो उठती थी।

मैं मन-ही-मन रोती रहती। रोटी भी क्यों भाती। पर अपना दुःख

प्रकट करने की अकल भी मुझमें कहां थी ! जमनालालजी और वच्छराजजी इतने कोमल थे कि अगर उनको मालूम होता कि मैं दु:खी हूं तो मुझे पीहर भेज भी देते। पर मैं क्या जानूं कि उनको कैसे कहा जाय, और यह भी पता कहां था कि उनको कहने से भी कुछ हो सकता है।

: ८ :

सास के अभाव में अनेक सासें

प्लेग खतम हो जाने पर हम लोग वापस वर्धा आ गये और जीन प्रेस में रहने लगे। परिवार की एक महिला मेरे पास आकर तरह-तरह की बातें बनाती। वह कहती—"घर में सासूजी की मौत हुई है तो बारह महीने तक ब्राह्मणी को जिमाना चाहिए।" एक वर्ष पूरा होने पर उस महिला ने उस ब्राह्मणी को कुछ कपड़े दिलवा दिये। मैं समझती थी कि ऐसा करना धर्म की दृष्टि से आवश्यक होता है। उस समय घर का सारा इन्तजाम मेरे छोटे होने के कारण बच्छराजजी ही करते थे। इसलिए मेरे पास तो मेरे ब्याह के समय के मां के दिये हुए पहनने के कपड़े ही थे। मैंने वे बता दिये और उन्हींमें से उसने एक रेशम और गोटे के घाघरे का वेस निकाला और एक सूती। रेशमी वेस घर के जोशीजी[1] को दिलवा दिया और सूती ब्राह्मणी को।

यह बात बच्छराजजी को मालूम हो गई। उन्होंने उस महिला को खूब गालियां सुनाईं और कहा कि औरतें आ-आकर छोरी (बहू) को ठग-कर ले जाती हैं। इसलिए पीछे का दरवाजा बन्द करवा दिया। उन्होंने यहांतक कहा कि उस औरत को मैं गांव के बाहर निकाल दूंगा। बच्छ-राजजी को पता लग गया, यह मालूम होते ही उस महिला के होश-हवास उड़ गये और उसे अपने पति का भी डर लगने लगा। वह दौड़ती हुई मेरे पास आई और मुझे ही डांटने लगी—"मैंने कब कहा था कि वेस जोशीजी

---

१. राजस्थानी समाज में हर कुटुम्ब के ब्राह्मण, नाई आदि आत्मीय जैसे होते हैं। इनमेंसे जो ब्राह्मण-कुटुम्ब हमारे घर का था, उन्हें घर के लोग जोशीजी कहते थे।

को दे। तूने ही दिया।" मैं तो सिटपिटा गई। उसने ये बातें अपने बचाव के लिए कही थीं, पर नौकरानी ने झट कहा—"थेई तो कपड़ा दिराया और थे ही लड़ो हो, या टाबर के समझे ?"

अब मैं अपना नित्यकर्म—जैसे पूजा-पाठ सहस्रनाम का पाठ आदि करती और आराम से रहती। कुछ दिनों तक मैं नौकरानियों तथा हंतकार के लिए आनेवाली लड़कियों के साथ ताश भी खेलती रही। फिर भी इसमें मेरा मन नहीं लगता था। एक घटना के बाद तो ताश खेलना बन्द ही कर दिया।

जमनालालजी १३ वर्ष के होंगे। एक रोज चोपड़ खेलकर चोपड़ दादाजी के पलंग के सामने आलमारी के नीचे रख दीं। दादाजी स्नान करके आये और नज़र चोपड़ पर पड़ी तो बोले—सामने क्या है ? झुककर देखा तो चोपड़ है। निकाली और बोले कि हो-न-हो यह जमन का काम है। फिर तो अनगिनत गालियां देने लगे और बोले कि चोपड़ पांडवों ने खेली, सो राजपाट चौपट किया, यह तो जुआ है। जमनालालजी चुप मारे सुनते रहे। उनके सामने बोलते तो क्या ! जमनालालजी को मन में बहुत रंज हुआ और बोले कि मुझे शांति से ही कह देते कि यह काम बुरा है तो मैं योंही समझ जाता। पर इतने अपशब्द कहकर खुद को कष्ट दिया। उन्हें इस बात से अपने माता-पिता पर ही रोष आया कि उन्होंने मुझे गोद क्यों दिया और इन्होंने क्यों लिया। इन्हीं विचारों में वह दूसरे कमरे में जाकर रुआंसे-से सो गये। जब जीमने का वखत हुआ तब दादाजी ने जमन को याद किया। तब मालूम हुआ कि वह दूसरे कमरे में रुष्ट होकर सो गये हैं। फिर उन्होंने समझा-बुझाकर मनाया और अपने साथ बैठाकर जिमाया।

यह शोर-गुल मैंने सुना तो इसका मुझपर भी काफी असर हुआ और मेरी श्रद्धा ने ताश खेलने को भी जुआ खेलना समझ लिया और मैंने भी इसे छोड़ दिया।

मुझे तो सीने-पिरोने में ही आनन्द आता था। पूजा-पाठ में भी समय अच्छी तरह कट जाता था। सिलाई का सामान मां भेज दिया करती थीं। गांव की स्त्रियां भी मेरे पास कुछ काम दे जाती थीं। छाबड़ी में यह सब

सामान पड़ा रहता। इससे मेरा समय भी कट जाता और सिलाई में भी सफाई आने लगी।

आज जब मैं विचार करती हूं तो मुझे यही लगता है कि बच्छराजजी ने औरतों का आना-जाना बंद करके मेरा भला ही किया था। जिसके पास सास नहीं होती उसकी कई सासें हो जाती हैं और नई बहू को सबका आदर करने में बहुत-कुछ सहन करना पड़ता है।

: ९ :

'एक दिन मरना अवश्य है'

जमनालालजी पांच वर्ष की उमर में गोद आये थे। उन्हें यहां दादीजी का बहुत प्यार मिला। वह वृद्धा थीं और गोद लिया हुआ जवान बेटा शादी के बाद ही चला गया था, इसलिए जमनालालजी पर उनका प्यार होना स्वाभाविक ही था। सद्दीबाईजी स्वयं बहुत सरल स्वभाव की, और धार्मिक वृत्ति की थीं। उनके यहां साधु-सन्तों की पंगतें सदा लगती रहती थीं। जमनालालजी भी आनेवाले साधुओं से मनुष्य-जीवन की सार्थकता आदि के बारे में प्रश्न पूछते और सुनते रहते। दैवयोग की बात कि उनके ग्यारह वर्ष के होते-न-होते दादीजी का स्वर्गवास हो गया। इससे वह अनमने-से रहने लगे।

उनकी विधवा मां (रामधनजी की पत्नी) भी उनसे बहुत प्यार करती थीं। उनके लिए विवाह के तुरंत बाद ही पति की मृत्यु हो जाने से और दादी के भी चल बसने से जमनालालजी ही प्रेम के अवलम्ब रह गये थे। उनका लाड़-चाव, खिलाना-पहनाना वह करती थीं। पर दादी-जैसी प्रौढ़ता इनमें कैसे आ सकती थी? आदमी ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, त्यों-त्यों प्यार की गहराई बढ़ती जाती है। फिर भी विधवा मां ने जमनालालजी का जी बहलाने में सब-कुछ किया। दो वर्ष बाद हमारा विवाह हो गया। विवाह में खूब लाड़-प्यार किया गया। पर भाग्य से विवाह के दस महीने बाद ही इन मां का भी देहांत हो गया। इससे भी जमनालालजी के मन पर बड़ा असर हुआ।

विवाह के अवसर पर जमनालालजी के जन्म के पिता कनीरामजी सपरिवार मारवाड़ से आये थे। उनके तीन पुत्र थे। पहले, माधवलालजी तो उनके साथ ही रहते और बच्छराजजी के पास काम सीखने वर्धा आये

थे। दूसरे जमनालालजी गोद आ चुके थे। तीसरे बद्रीप्रसादजी थे, जो विवाह के समय उनके साथ आये थे। पर दैव की लीला को किसने जाना है! उन्हें मियादी बुखार हुआ और नौ दिन के बाद ही बद्रीप्रसादजी चल बसे। उनकी उमर ग्यारह वर्ष की थी। विवाह के बाद वर्धा में ही यह घटना हुई। इसने सबको शोक के सागर में डाल दिया। कनीरामजी के लिए तो यह असह्य वेदना की बात थी। एक बेटे का अभी विवाह हुआ, हलदी का रंग छूटते-छूटते छोटा बेटा चल बसा। अभी तो घरवालों के हौसले ही पूरे होने रह गये थे कि यह महान् संकट आ पड़ा। कनीरामजी के लिए वर्धा में पानी पीना तक असह्य हो गया। बच्छराजजी ने बहुत समझाया कि अब यहीं रहो, इसीको अपना घर समझो, पर कनीरामजी कैसे मानते। वह स्वाभिमानी थे। आखिर कनीरामजी की मानसिक स्थिति को देखकर माधवजी को उनके साथ थोड़े दिनों के लिए मारवाड़ भेजना पड़ा। कितनी उमंग से रास्ते-भर मंगलगीत गाते हुए आये और लौटते समय का यह कैसा करुण दृश्य था!

बच्छराजजी भले ही तेज स्वभाव के रहे हों और यह भी ठीक है कि उनके मुंह से सदा गालियां 'घी के नालों' की तरह बहती थीं, पर जमनालालजी को प्यार तो वह इतना करते थे कि रात को अधिकतर अपने साथ ही सुलाते। दादी और मां के बाद तो घर में सबकुछ बच्छराजजी ही थे। सारा भार उनपर ही था। मैं तो बच्ची-जैसी थी। मेरा उतना परिचय भी नहीं बढ़ा था। जब जमनालालजी सोलह-सत्रह वर्ष के रहे होंगे तभी बच्छराजजी का भी स्वर्गवास हो गया था। अब परिवार में हम दोनों रह गये। बड़े भाई माधवलालजी कारोबार देखते थे। बच्छराजजी परिवार के आधार-स्तम्भ थे। अब ऐसा कौन था जो हमें प्यार करता, हमें अपनी बालसुलभ गलतियों से बचाता, हमारी सुख-सुविधाओं का खयाल रखता? लेकिन जमनालालजी ने अपने बड़े भाई को निकट पाकर धीरज रखा।

माधवजी बच्छराजजी के हाथ के नीचे व्यावहारिक शिक्षा पा चुके थे। वही कारोबार चलाते थे। हट्टे-कट्टे स्वस्थ थे। पर किसे पता था कि अभी दुःखों की सीमा आना बाकी है। थोड़े समय बाद ही माधवलालजी को भी वही मियादी बुखार आया और वह भी नौ दिन में ही चले गये। यह अच-

रज की बात थी कि आठ दिन तक वह भर बुखार में भी स्नान करके रुई की खरीद के लिए जाते रहे और सब अनजान रहे। नवें दिन एकाएक सन्निपात हो गया। उस दिन जब उनसे पूछने गये तब भी उन्होंने कहा, "मांदगी भी मजा है, जिसमें लोग सोये हुए को पूछने आते हैं।" इलाज के लिए बड़ी दौड़-धूप की गई, पर सब इलाज असफल रहे। इससे जमनालालजी के धैर्य का बांध टूट गया और रह-रहकर उनकी आंखों के आगे मौत का दृश्य आने लगा। दादी का निर्मल प्यार, मां का लाड़, दादाजी का स्नेह और भाई की ममता की याद उन्हें सताने लगी। अब वह सुध-बुध और आपा ही खो बैठे। इस घटना का उनके दिल पर इतना असर हुआ कि उन्हें भी १०४ डिग्री बुखार चढ़ आया और वह बेहोश हो गये। सोचने लगे —पिताजी को मुंह कैसे दिखाऊंगा। हम तीन लड़कों में से अब उनके पास कौन रहा; उनके तीनों लड़के वर्धा की भेंट चढ़ गये; दो चल बसे और ये भी पराये हो गये। इसी सोच में वह अस्वस्थ हो गये। उनका जन्मजात वैराग्य और भी तीव्र हो उठा और वह साधु बनने तथा गंगा-किनारे कुटिया बनाकर रहने की बात सोचने लगे।

बच्छराजजी के जाने से मानो जमनालालजी के सिर से छत्र उठ गया था। पर बड़े भाई माधवजी का आसरा रहा। दादाजी का प्यार तो वह भुला ही कैसे सकते थे? पर दैव की लीला तो कुछ और ही थी। एक दिन माधवजी भी चल बसे। यह जमनालालजी के लिए असह्य हो गया। वह बे-सुध हो गये। भानीराम नामक ब्राह्मण को देश भेजा। कनीरामजी पर तो माधवजी की मृत्यु से जैसे वज्रपात ही हो गया। वह पागलों की तरह जंगलों में भागते-फिरते थे। झाड़ों से सिर फोड़ते थे। जमनालालजी की मां और गांव के लोग पीछे-पीछे रहते थे। लोग सम्हालते, पर उनकी वेदना बहुत अधिक थी। जमनालालजी उनके पास गये। वह चाहते थे कि माता-पिता उनके साथ वर्धा ही रहें, पर कनीरामजी के स्वाभिमान को यह कैसे मंजूर होता।

कनीरामजी की इमारती कामों में रुचि थी। जमनालालजी ने सीकर के रावराजा माधोसिंहजी से जमीन लेकर एक मकान बनाने का काम उन्हें सौंप दिया। इसे आज 'कमरा' कहते हैं। वहां बंगले को कमरा ही कहा

जाता है। सीकर में माधवजी के नाम पर 'माधव दवाखाना' खोल दिया। यह दवाखाना भी अवतक चल रहा है।

इन घटनाओं ने उन्हें और सजग वना दिया। वह मौत को सदा सिर पर देखने लगे। कौन जाने मृत्यु कब आयगी? इसलिए उन्होंने अपने जीवन में कई वार मृत्यु-पत्र वनाये और एक वाक्य तो सदा ही उनके मुख पर रहता था—"एक दिन मरना अवश्य है—अन्याय से सदा डरो।" यह वाक्य छपाकर अपने कमरे में तथा अन्य जगहों पर भी टांग रखा था।

: १० :

डालूराम की सेवापरायणता

मेरे भाई दो बार मुझे लेने के लिए आये; लेकिन वच्छराजजी ने उन्हें खाली लौटा दिया। वह अब मेरी ओर से निराश हो गये और उन्होंने समझ लिया कि मुझे पीहर ले जाना कठिन है। उस समय दत्तूरामजी जाजोदिया के यहां डालूराम चौबे नौकरी करता था। मेरे विवाह के काम-काज में उसका मेरे पीहरवालों से सम्बन्ध आया था। इसलिए मेरे पीहरवाले भी डालूराम को जानते थे। मेरे भाई ने सोचा कि यदि डालूराम वच्छराजजी के यहां नौकरी करने लगे तो बाई की खबर मिलती रहेगी और वह बाई की सार-सम्हाल भी करता रहेगा। उन्होंने डालूराम से कहा कि तुम वच्छराज-जी के यहां नौकरी कर लो तो हमें बाई की चिन्ता कम रहेगी।

डालूराम ने कहा—"वच्छराजजी के यहां? बाप रे बाप! उनकी गालियां कौन खायगा?"

भाई ने कहा—"वह जो गाली देंगे हमपर लगेंगी, पर तुम उनकी नौकरी बाई के वास्ते कर लो।"

मेरे भाई डालूराम को साथ लेकर वच्छराजजी के पास गये और बोले कि आप डालूराम को काम पर रख लीजिये।

वच्छराजजी ने कहा—"हां, वह खुशी से रह सकता है।"

भाई ने कहा—"पर इसका कहना है कि आपके मुंह से गालियां बहुत निकलती हैं।"

इसपर वच्छराजजी ने कहा—"साहाजी, मेरी गालियां तो घी की नाली हैं, मेरा स्वभाव हो गया है, क्या करूं?"

तब मेरे भाई ने डालूराम को समझाते हुए कहा—"भाई, जब यह खुद ही ऐसा कह रहे हैं, तब इनकी गालियों का क्या खयाल करना!"

इस तरह डालूराम हमारे यहां काम करने लगा।

पहले तो डालूराम गांव के चलते-पुर्जों की टोली में माना जाता था और उसी वातावरण में रहता था, पर हमारे यहां आने के बाद उसमें जिम्मेदारी की भावना जगी। उसने सोचा कि जमनालालजी का क्या भरोसा, चाहे जब साधू बन सकते हैं। बाई की उमर छोटी है और जावरा-वालों ने इसकी जवाबदारी मुझपर छोड़ी है, तो मुझे अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए। जावरावालों के सम्बन्ध के कारण डालूराम मेरे साथ धर्म-बहन का व्यवहार करने लगा। वह मेरा इतना ध्यान रखता कि मुझे किसी बात की तकलीफ क्यों हो। नीचे की सीढ़ियों के पास से ही मेरे बारे में वह नौकरानियों से पुछवाता रहता। मैं अगर ऊपर गैलरी पर कभी खड़ी दीखती तो कहलवा देता कि बाई से अन्दर जाने को कहो। कोई देख लेगा तो क्या कहेगा। बहू-बेटियों को भीतर ही रहना चाहिए। मैं गहने जो पहनती उनकी वह यादी (सूची) बना लेता। मैं बच्ची ही जो थी। स्नानघर में या कहीं भी कोई गहना छोड़ देती; इसीलिए डालूराम इस मामले में चौकस रहता। उसने हमारे यहां के बरतनों आदि सारी चीज़ों की भी फेहरिस्त बना ली थी।

वह हमारे घर का एक प्रकार से सुपरिन्टेण्डेण्ट हो गया था। मुझे तो ऐसा लगने लगा कि मैं पूरी तरह जेल में बन्द कर दी गई हूं और डालूराम जेलर की तरह मेरा ध्यान रखता है। पर वह जेल ऐसी थी, जिसमें कोई बन्धन नहीं था और वह जेलर ऐसा था जो अपने-आपको सेवक समझता था। वह तो मुझे हर तरह सुख देना चाहता था, पर उसकी कड़ाई इतनी होती थी कि वह मुझे 'सास' जैसा ही लगता था।

डालूराम पढ़ा-लिखा था। वह मुझे सती सीता-सी बनाना चाहता था। इसके लिए उसने मुझे 'पति-भक्ति-प्रकाश' नामक एक पुस्तक भी पढ़ने के लिए भिजवाई। उसने अपने-आपको हमारे परिवार में समर्पित कर दिया था। वह मुझे इतनी लज्जावती के रूप में देखना चाहता था कि समाज में मेरी प्रतिष्ठा हो। उस समय समाज में परदा आदि की प्रतिष्ठा थी ही। मैं मन्दिर जाती तो वह दूसरों को हटा देता, चौके में भोजन करने का समय

होता तो दूसरों को आने से मना कर देता। मेरी छाया भी कोई न देख पाये यह उसकी इच्छा रहती थी। मैं भी इन बातों में अपनी प्रतिष्ठा समझती थी। मैं जब कभी अपने मामा-ससुर बिरदीचन्दजी पोद्दार के यहां जाती-आती तो बन्द घोड़ागाड़ी में ही जाती और उसके दरवाज़े पर भी चादर डाल दी जाती थी। समाज का रिवाज़ और होते हुए भी मेरी उमर छोटी होने के कारण वह जैसा करता, वही चल जाता। उसने अपना घर ही छोड़ दिया और हमारे यहां ही रहने लगा। उसने सचमुच हमारे यहां हनुमान बनकर सेवा की।

जब मेरे बाल-बच्चे हुए, तब वह उनको खिलाता रहता। एक बार जमनालालजी ने सोचा कि डालूराम पढ़ा-लिखा है, इसलिए इससे योग्य काम लिया जाय तो ठीक रहेगा। उसे रोकड़ का काम सौंपा गया। पर डालूराम भी अपनी धुन का एक ही था। बचा हुआ रोकड़ का काम रात को दो-दो बजे तक पूरा किया करता और दिन में बाल-बच्चों को ही अधिकतर संभालता रहता।

उसने एक दिन पण्डित से पूछा कि कोई अगर बहन के यहां नौकरी करे तो उसके यहां भोजन कर सकता है क्या? इसपर ब्राह्मण ने कहा कि नौकरी कर ली तो भोजन करने में हर्ज ही क्या। फिर भी वह हमारे ऊपर की चीज़ें छोड़कर नीचे जो रसोड़ा चलता था, उसीमें भोजन करता।

सन् १९१७ में देश-भर में इन्फ्लुएंजा फैल गया था। हजारों आदमी इस बीमारी से मरने लगे। हमारे यहां भी सब बीमार हो गये। डालूराम की खूब देख-भाल की गई, पर टूटी को बूटी नहीं लगती। वर्षों तक उसने हमारे परिवार की निष्ठा और भक्ति के साथ सेवा की थी। अन्तिम समय उससे पूछा गया कि तुम्हारी जो इच्छा हो सो कह दो। उसने कहा—"गंगा नाम की नौकरानी को संभालकर रखना, वर्ना बच्चे कुएं में गिर जायंगे।" उसने यह बात इसलिए कही थी कि मन्दिर का कुआं नज़दीक ही था और बच्चे वहां खेला करते थे तथा मेरे तेज स्वभाव के कारण बच्चे मेरे पास टिकते न थे।

उसके माता-पिता और पत्नी तो पहले ही चल बसे थे। दो भाई थे,

उनके बारे में भी उससे पूछा गया। वह कहता क्या, केवल हाथ हिला दिये। उसके दोनों भाइयों को बोर्डिंग हाउस में पढ़ने के लिए भरती कर रखा था। दोनों के विवाह जमनालालजी ने ही किये थे और उन्हें काम पर लगा दिया था।

: ११ :

संस्कार तथा शिक्षा

धार्मिक संस्कार मुझे बचपन में मां से मिले थे और ये संस्कार उमर के साथ बढ़ते गये। जो भी किताब मैं पढ़ती, उसकी सब बातों के पालन का प्रयत्न करती, क्योंकि मैं यही समझती थी कि किताबों में जो कुछ लिखा हुआ होता है वह सब भगवान का ही लिखा हुआ या वेद-वाक्य है। मैं अधिकतर धार्मिक किताबें ही पढ़ती थी। जब डालूराम ने 'पतिभक्ति-प्रकाश' नामक पुस्तक मेरे पास भेजी थी तो मैंने उसे इसी भावना से पढ़ा था और उसमें लिखी बातों के अनुसार चलने की कोशिश भी करने लगी।

पहली बात, जिसका मुझपर असर हुआ, वह यह कि पति या बड़ों के बाद ही भोजन करना चाहिए। मैं ऐसा करने लगी। बच्छराजजी तथा जमनालालजी प्रातःकाल कलेवे में बादाम का हलुआ और कुछ नमकीन खाकर काम में लग जाते और मेरे लिए भी ऊपर ये चीज़ें आ जातीं। बच्छ-राजजी नौकरानी से पूछते भी रहते कि बीनणी ने कलेवा कर लिया क्या ? मैं बिना कलेवा किये ही 'हां' कहला देती और पूजा-पाठ तथा सीने-पिरोने में ही लगी रहती। दो बजे भोजन करती। वे सुबह कलेवा कर लेते हैं तो मैं भी कलेवा कर सकती हूं, यह समझना मेरे लिए कठिन था। जब बच्छ-राजजी तथा जमनालालजी भोजन कर चुकते तभी मैं भोजन करती थी। इसमें दो बज जाया करते थे। नियम-पालन का इतना खयाल रखती थी कि कभी कोई चीज़ खाने की इच्छा भी हो जाती तो भी मुंह में डालने से बचती। पीहर में तो मैं दिनभर में कई बार खा-पी लेती थी। पर अब तो मेरा खाना-पीना पतिभक्ति की भावना के अनुसार होने लगा। दूसरे, मैं पति की जूठी थाली में भोजन करने को पतिभक्ति समझती थी। इसलिए मैं जमनालालजी की थाली रखवा लेती और उसीमें भोजन करती।

इस तरह अनियमित भोजन का मेरे शरीर पर असर होने लगा। मेरे पेट में गांठें होने लगीं। टट्टी जाते समय बहुत कष्ट होता। शरम के कारण यह बात किसीसे कहने में संकोच करती और यह सोचकर रह जाती कि इसमें दूसरा कोई क्या करेगा। परिणाम यह हुआ कि मुझे मस्से की बीमारी (बवासीर) हो गई जो बाद में बढ़ती ही गई।

जमनालालजी के मामा बिरदीचन्दजी पोद्दार वेदान्ती थे। वह अपने बगीचे में जाकर ध्यान आदि किया करते थे। जमनालालजी अपने बगीचे में शिवजी की पूजा करते थे और रुद्राक्ष की माला गौ-मुखी में डालकर फेरते। उनके कमरे में योगियों के चित्र भी टंगे रहते थे।

जब जमनालालजी से मेरा परिचय बढ़ा तब मैंने उनसे कहा कि पूजा घर पर ही किया करें। उन्होंने यह मान लिया और पूजा का सामान बगीचे से घर मंगवा लिया। वह स्नान करके पूजा में बैठते और मैं उनकी धोती धोकर उनकी पूजा करती। उनकी धोती धोने को मैंने नौकरों को मनाई कर दी थी। मैंने पढ़ा था कि पति का पादोदक, जैसे वैष्णवों में गुरु का लेते हैं, लेना चाहिए और सफेद फूल से पूजा करनी चाहिए। इसलिए मैंने एक गमला ऊपर रख लिया था और उसमें से रोज एक फूल उतारकर चढ़ाती और 'नमः कान्ताय शान्ताय सर्वदेवाश्रयायच' श्लोक का पाठ करते हुए चांदी की कटोरी में दाहिने पैर के अंगूठे को धोकर उस जल को पी जाती।

जमनालालजी को ये दोनों क्रियाएं—जूठी थाली में भोजन करना और अंगूठे को धोकर पीना—असह्य थीं। जूठी थाली में भोजन करना तो कुछ समय के बाद बन्द ही कर देना पड़ा। एक तो उनकी अरुचि थी, दूसरे जूठे थाल पर मक्खी आदि बैठती थीं। पर पादोदक का लेना मेरे आग्रह के कारण चलता रहा। मेरे आग्रह के आगे उन्होंने भी हार मान ली। जब वह जेल आदि चले जाते तब उनका पादोदक शीशी में भरकर रख लेती और जब कभी उनसे मिलने जाती, चुपचाप दाहिने पैर का अंगूठा धोकर ले आती।

एक बार हम लोग चित्रकूट गये थे। चित्रकूट की मिट्टी का कण-कण पवित्र है। इसलिए जब हम वहां रहे तब मैंने वहां की पावन मिट्टी और

चरणोदक को मिलाकर पेड़े बना लिये। आज भी ये पेड़े मेरे पास रखे हैं। प्रतिदिन स्नान के बाद अब भी उसका एक कण मुंह में रख लेती हूं।

भादों की अमावस्या को स्त्रियां सती की पूजा करती हैं। मैंने सोचा कि मैं भी सती बन जाऊं तो मेरी भी पूजा होगी। पर सती होऊं कैसे? अगर पति के पहले मर गई तो सती होने का मौका हाथ से निकल जायगा—ऐसे विचार मन में आते रहते।

जब जमनालालजी से जान-पहचान बढ़ने लगी, तब उनके मन में आया कि मेरी पढ़ाई आगे बढ़े तो अच्छा हो। उनकी पढ़ाई भी बचपन में कम ही हो पाई थी। इसका कारण था—उनके दादाजी का बहुत ज्यादा प्यार। फिर मारवाड़ी समाज में ज्यादा पैसेवाले को अधिक पढ़ाई करने की क्या ज़रूरत थी! उन्हें इसका अफसोस रहता था और अपनी पढ़ाई की भी कोशिश करते रहते थे। एक तो व्यापार के कारण उन्हें फ़ुरसत बहुत कम मिलती थी, दूसरे बचपन में नियमित पढ़ाई न होने से जमकर पढ़ने की आदत कैसे होती। लेकिन वह एक पढ़े-लिखे आदमी को हमेशा मन्त्री के रूप में रखते थे, जो उन्हें पढ़ाने का भी काम करता।

मेरे पास काम-काज भी क्या था! बाल-बच्चे भी बाद में ही हुए थे। इसीलिए एक मास्टरनी रख दी गई। उन दिनों यहां मराठी की ही पढ़ाई होती थी, इसलिए मराठी मास्टरनी का ही मिलना आसान था। वर्धा की बोल-चाल की भाषा भी मराठी ही थी। इसलिए यह भी दृष्टि रही कि मराठी का ज्ञान बढ़े तो अच्छा। पर मुझे 'इकड़े-तिकड़े' में क्या रस आता? कोशिश करने पर भी मेरी प्रगति मराठी में रुक गई। मास्टरनी साल-दो साल तक आती तो रही, पर अधिक समय बातचीत में ही चला जाता।

इसके बाद एक पारसी बहन को मुझे पढ़ाने के लिए रखा गया। उसे मेरा सामान्य ज्ञान बढ़ाने का काम सौंपा गया। वह मुझे अखबार पढ़कर सुनाती। इससे नये-नये शब्द सुनने को मिलने लगे। मेरी इसमें रुचि बढ़ने लगी। मुझे केवल सुनना पड़ता था। जहां हम रहते थे, वहां चौगान (दालान) में रोज व्याख्यान होते रहते थे। वही अब गांधीचौक कहलाता है। इस तरह मेरा सामान्य-ज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता गया।

उन दिनों मैं परदे में रहती थी; स्वभाव भी मेरा संकोची था, इस-

लिए सामाजिक और राजनीतिक बातों को मैं क्या जानती ? लेकिन अख-बार की पढ़ाई तथा सभाओं से मेरी जानकारी बढ़ती गई। जैसे-जैसे घर पर बड़े-बड़े लोगों का आना-जाना बढ़ा, और मैं भी बाहर जाने लगी तब बहुत-सी बातों का ज्ञान मुझे हुआ। गांधी चौक में रोज़ ही चर्चाएं-सभाएं होतीं। इन चर्चाओं तथा सभाओं से कई बातें जानने को मिलतीं। धार्मिक पठन-पाठन तो प्राय: होता ही रहता। लेकिन वाचन रह गया। इसलिए किताबी ज्ञान की अपेक्षा सभाओं तथा चर्चाओं से ही मेरा ज्ञान बढ़ा। जमनालालजी मुझे अपनी डाक पढ़ने के लिए भी कहते रहते। लेकिन एकाध पत्र से अधिक पढ़ने में मेरा मन कम लगता था। बाल-बच्चे होने पर तो पढ़ाई का सिल-सिला कुछ समय के लिए टूट-सा गया।

यों सीखने की इच्छा तो आज भी वैसी ही है, पर सीखने की लगन का अभाव मुझमें बचपन से ही रहा। लगन तो तपस्या है। यह मुझमें कैसे होती। यही कारण है कि जमनालालजी की तथा अपनी बहुतेरी कोशिशों के बाद भी मैं जहां-की-तहां रही। फिर भी जैसे वातावरण में मैं रही, उससे मुझे काफी जानकारी मिली और उससे मेरा काम चल जाता है।

साबरमती में मैं हर कक्षा में जाती—सितार की क्या, गीता की क्या और बापू की क्या। वैसे मैं प्रथमा की कक्षा में बैठी। उसमें फेल हुई, मध्यमा में भी बैठी, उसमें भी फेल हुई।

: १२ :

लक्ष्मीनारायण मन्दिर

सद्दीबाई धार्मिक वृत्ति की थीं। साधु-सन्तों की टोलियों का वहां लंगर ही लगा रहता था। गांव की पंचायत का भी काम वही करती थीं। उन्होंने अपने जीवन में धर्म-कार्यों में दिल खोलकर खर्च किया और अन्तिम समय भी वह अपनी रकम से लक्ष्मीनारायणजी का मन्दिर बनाने के लिए कहकर सिधारीं। उनका एक लाख रुपया दुकान में जमा था।

बच्छराजजी का ध्यान व्यापार की तरफ अधिक रहता था। सद्दीबाई को सीधा आदि देते हुए देख लेते तो छीन लिया करते थे। लेकिन जमनालालजी को यह बात याद थी। एक तो दादीजी का उनपर अत्यन्त प्यार था, दूसरे वह स्वयं धर्मभाववाले थे और ली हुई जिम्मेदारी को पूरी करने की तत्परता भी उनमें थी। इसलिए उन्होंने मन्दिर का काम शुरू करने के लिए दादाजी से पूछा। उनकी मंजूरी मिल गई और काम शुरू हो गया।

मन्दिर का काम हीरालालजी फतेहपुरिया (ओसवाल) की सलाह से होने लगा। काम की देखरेख में सुविधा हो, इसलिए मन्दिर के पासवाले मकान में हम रहने लगे। जैसे-जैसे मन्दिर का काम बढ़ने लगा, बच्छराजजी की दिलचस्पी भी उसमें बढ़ने लगी।

मूर्तियों के लिए बम्बई के माधवबाग के मन्दिर का नमूना दिया गया, पर मूर्तियां उससे बड़ी ही आईं। मूर्तियों की जरी की पोशाकें बनाने के लिए बम्बई से कारीगर बुलाये गए। जेवर बनवाते समय बच्छराजजी ने कहा, "छोकरी से पूछो कि भगवान के लिए गहना घर से देना है या नया बनवाना है ?" बच्छराजजी मुझे 'छोकरी' ही कहा करते थे। मुझपर उन दिनों भक्ति का रंग चढ़ा हुआ था। मैंने कहला दिया कि जो मूर्तियों के पहनने में आ सके वह जेवर तो घर का ही चढ़ा दिया जाय, लेकिन हाथ के

जेवर मूर्ति के माप के ही वनवाने पड़ेंगे। करीव वीस हजार के जेवर घर से दिये गए और वाकी नये वनवाये गए। प्रतिष्ठा के दस महीने पहले से ही कारीगर वैठाये गए थे। प्रतिष्ठा तक काम चलता रहा। मैं भी रात के दस-दस वजे तक मूर्तियों के कपड़े सीती रहती। हम तीनों को वस यही धुन लग गई थी कि मन्दिर वढ़िया वने, जेवर तथा पोशाकें सुन्दर हों, और प्रतिष्ठा ठाट से हो।

सद्दीवाईजी के स्वर्गवास के कारण बच्छराजजी का स्वास्थ्य गिरता गया। वह पलंग पर लेटे हमेशा काम-काज की वातें करते रहते। मूर्तियां उनके पलंग के पास ही रखी हुई थीं। वह कहने लगे कि मरने से पहले प्रतिष्ठा देख लूं तो ठीक। उनपर भक्ति का रंग चढ़ने लगा था। सचमुच यह उनके जीवन का वहुत वड़ा परिवर्तन था, क्योंकि उनकी सारी उमर व्यापार में ही वीती थी।

सद्दीवाईजी के जीते-जी, जिनका ध्यान व्यापार में ही रहता था, वह अव धर्म में रंग गये। यह सद्दीवाईजी का पुण्य-प्रताप ही समझना चाहिए। प्रतिष्ठा बहुत ठाट-वाट से हुई। बनारस के पं० शिवकुमारजी कई पण्डितों के साथ आये थे।

सद्दीवाईजी ने मन्दिर के लिए एक लाख रुपया छोड़ा था। लेकिन काम शुरू होने पर हम सब उसमें इतने लीन हो गये कि लगभग पौने दो लाख रुपया खर्च हुआ। मन्दिर का भविष्य में खर्च अच्छी तरह चलता रहे, इसलिए मन्दिर के लिए एक ट्रस्ट बनाया गया और मन्दिर के नाम पर काफी जायदाद कर दी गई। वह ट्रस्ट अबतक चल रहा है।

स्त्री-पुरुष भजन गाते हुए स्टेशन पर पहुंचे। अभ्यागतों ने भी वादल की छाया में आराम से भोजन किया। जो लोग फूल लेकर गए थे, वे गंगाज़ल के आठ घड़े भरकर लाये। उपयोग में लाते-लाते अन्त में जमनालालजी के स्वर्गवास के समय एक घड़ा वच रहा था। उसी जल से उन्हें स्नान कराया गया। सचमुच यह वड़े आश्चर्य की वात थी कि चालीस वर्ष के वाद भी जल वैसा ही था। उस समय भी पांव के ऊपर से जो जल गिरा वह मैंने पी लिया। मेरे देखा-देखी आश्रम की लड़कियों ने भी पिया। फिर मैंने उसे गिलास में भरकर रख लिया। वाद में विनोवाजी ने कहा कि आत्मा के निकलने के वाद शरीर अशुद्ध हो जाता है। तव मैंने वह जल जमनालालजी की दाह-क्रिया के स्थान पर विनोवाजी ने जो वकुल का पेड़ लगाया था, उसपर छोड़ दिया।

वर्धा की तरह मारवाड़ में भी वारहवीं होनी चाहिए, इसलिए वर्धा से वालूरामजी चूड़ीवाला को भेजा गया। वहां कनीरामजी ने तथा वालूरामजी ने ब्राह्मणों तथा जातिवालों को ठाट से जिमाया। ब्राह्मणों को दक्षिणा में एक-एक रुपया दिया गया। दस-दस कोस से कई ब्राह्मण वाल-वच्चों-सहित आये। उस समय देश में एक रुपये की दक्षिणा वहुत वड़ी वात मानी जाती थी। उस समय कलदार रुपये को चेरासाही[1] कहते थे। दक्षिणा 'माथा दीठ' चुकती थी। इसलिए लोग साथ में जानवर भी ले आते थे।

उस जमाने में इस तरह का भोज प्रायः सभी जगह होता था। इसके लिए तैयारियां भी खुद करनी पड़ती थीं। वहुत-से लोग मिठाइयां लोटे में और वहनें घाघरों में छिपाकर ले जाती थीं। एक वहन के घाघरे का तो लड्डुओं के वोझ से टांका ही टूट गया। ४० लड्डू गिरे। जमनालालजी को यह वात मालूम हुई तो इसका उनके दिल पर वड़ा भारी असर हुआ और उन्होंने सोच लिया कि यह प्रथा रोकनी चाहिए; क्योंकि दक्षिणा लेने-वालों में दीनता आती है और देनेवालों में अहंकार। खर्च करनेवाला तो

---

१ 'चेरासाही' अर्थात् चेहराशाही। अंगरेजी शासन में चेहरेवाला रुपया निकला था, जिसपर उस समय के राजा या रानी का चेहरा उभरा हुआ होता था। यह रुपया देशी राज्यों के रुपये से अधिक कीमत का था।

: १३ :

बच्छराजजी का स्वर्गवास

बच्छराजजी को दमे की बीमारी थी। मन्दिर की प्रतिष्ठा के बाद एक दिन उनको अचानक हिचकी आई। माधवजी दौड़कर बालूरामजी चूड़ीवाला के पास गये और बोले—"भाया, दादाजी नै हुचकी आई, चालो।" बालूजी समझ गये। उन्होंने दान-पुण्य के लिए अनाज, घी, शक्कर आदि सामान मंगाया। बालूजी आये तबतक दादाजी चल बसे थे।

दादाजी के प्राण मन्दिर की सन्ध्या की आरती के समय निकले। मारवाड़ी-समाज में सूर्यास्त तक ही दाह-संस्कार होने से रात-भर हम लोग उनके शव के पास बैठे रहे। सवेरे ठाट-बाट से उनकी अरथी निकली। सड़क की सफाई की गई, पानी छिड़का गया। अरथी पर बखेर की गई। गरमी के दिन थे, अरथी उठाते समय वर्षा हो गई। वातावरण में ठंडक आ गई। दाह-संस्कार बगीचे में किया गया, जहां दादीजी—सद्दीबाईजी का संस्कार हुआ था। दोनों के स्मारक रूप में छत्री बनी हुई है। छत्री के नीचे गुफा बनाई गई थी, जहां साधु-संन्यासी ध्यान आदि किया करते थे और उनके लिए दूध, भोजन आदि घर से भेजा जाता था। वह बगीचा 'सद्दीबाई पार्क' कहलाता है।

बच्छराजजी की मृत्यु के बाद गरीबों को खिलाना शुरू हुआ, जो बारहवीं तक चलता रहा। बारहवें दिन ब्राह्मणों तथा जातिवालों को जिमाया गया। उस दिन बहुत लोग जीमनेवाले थे। ब्राह्मणों तथा जातिवालों के लिए तो टट्टे बंधवाकर छाया कर दी गई थी, पर गरीबों के लिए तो ऐसा करना असम्भव था। जेठ की गरमी में उनको तपना पड़ेगा तथा हरिद्वार फूल ले जाने के लिए स्टेशन तक जानेवालों को धूप में नंगे पैर जाने में कष्ट होगा, ऐसे विचार मन में आ ही रहे थे कि बादल छा गये।

लाखों रुपया खर्च कर सकता है, पर ये लालच में अपनेको गिरा देते हैं। इसी कारण जब कनीरामजी (उनके जन्मपिता) की मृत्यु हुई, तब उन्होंने जीमने आदि का कार्य-क्रम बन्द रखा, हालांकि इससे जमनालालजी की जननी बिरदीबाई को दुःख हुआ। उन्होंने कहा,

"थारा काकाजी घर का रुपया लगाकर, लोगों का कारज सुधारता हा, आज बांको ही मोसर रह जावे। जद दुख तो होवे ही।"

इसपर जमनालालजी ने कहा, "मां, मैं काकाजी के नाम पर ऐसा काम करूंगा, जो उनकी कीर्ति को इससे भी ज्यादा बढ़ायगा और उनकी आत्मा को संतोष देगा।"

जमनालालजी ने कनीरामजी के नाम पर सीकर में हरिजनों के लिए एक पाठशाला खुलवा दी। यह 'कनीराम हरिजन पाठशाला' आज भी अपना कार्य कर रही है।

बच्छराजजी की मृत्यु के बाद उनके निमित्त भागवत की कथा कराने तथा बदरीनाथ की यात्रा करवाने का मैंने संकल्प किया था। बरसों बाद बापूजी के पुराने साथी स्वामी आनन्द जब बदरीनाथ जाने लगे तो मैंने उनसे कहा कि आप ठीक समझें तो मेरे निमित्त यह यात्रा कीजिये। उन्होंने अपनी सहज उदारता से यह स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार विनोबाजी की प्रेरणा से उनके शिष्य कुंदर दिवाण ने लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में भागवत-कथा कही। बहुत बरसों बाद भी किसी प्रकार यह संकल्प यों पूरा हो सका, इससे मन में संतोष हुआ।

: १४ :

गहना छूटा

मेरी उमर तेरह-चौदह वर्ष की रही होगी। एक दिन हमारे यहां एक मेहमान आये। उनकी कमर में सोने की तागड़ी थी। यह देखकर मैंने सोचा कि अपने यहां तागड़ियां पड़ी हुई हैं, जमनालालजी पहनें तो अच्छा। मैंने उनसे कहा, "थे भी सोना की तागड़ी पेर्यां करो।" उन्होंने उत्तर दिया—"सोना तो भगवान का रूप है। उसे कमर के नीचे कैसे पहना जाय। मैं चुप हो गई और मेरे सामने यही प्रश्न उपस्थित हो गया कि मैं क्या करूं ? वाद-विवाद करने-जैसी मेरी समझ ही कहां। जो कुछ मुझसे कहा जाता, चुपचाप श्रद्धा से सुन लेती और मान लेती। जब जमनालालजी ने सोने को भगवान-रूप बताया तब मैं भी कमर के नीचे सोना कैसे पहनती ? पर तागड़ी का मोह था। मैं सगाई के समय से तागड़ी पहनती आ रही थी और स्त्रियों के शृंगार में तागड़ी विशेष थी। मां की तरह पहनने-ओढ़ने के मामले में मैं भी बड़ी चौकस थी। पर अन्त में मन को पक्का करके तागड़ी छोड़ना ही ठीक समझा और उसे निकाल दिया। आगे चलकर अग्रवाल-महासभा में जमनालालजी ने तागड़ी के बारे में एक भाषण दिया। तबसे बजाज-परिवार में तागड़ी बनवाने की बात ही गई।

तागड़ी ही क्या, एक दिन तो ऐसा आया कि सारे गहनों का त्याग कर देना पड़ा। जब बापू ने बहनों से कहा कि जेवर मत पहनो, तब जमनालालजी ने मुझे एक पत्र लिखा कि बापू का आदेश है, गहने त्याग दो। यह बात वह रूबरू कहते तो शायद मैं उनसे बहस भी कर बैठती। पर उनकी चिट्ठी तो मेरे लिए वेद-वाक्य-जैसी थी। चिट्ठी का एक-एक शब्द मेरे लिए आदेश था। चिट्ठी मेरे सामने थी और मैं एक-एक गहना उतारकर रखती जा रही थी। इस बार मुझसे कहा गया, "सोना कलि का रूप है। दूसरों में ईर्ष्या

पैदा करता है, खो जाने का और चोरी का डर रहता है, शरीर पर मैल जम जाता है। नाक-कान में दुर्गन्ध आती है। इससे ब्याज का भी नुकसान होता है।" मुझपर इन सब बातों का बड़ा असर हुआ।

मारवाड़ी-समाज में सभी स्त्रियों को पैर की चांदी की कड़ी तो पहननी ही पड़ती है। गरीब-से-गरीब के पैर में कड़ी तो रहती ही थी। पर जब जवाहरात ही छोड़ दिये तो फिर कड़ी का झूठा मोह कैसा! कड़ी निकालने पर लोगों को अचरज हुआ और कई बहनें मुझे बिना कड़ी पहने देखने को भी आईं।

जब घर में ही स्त्रियों ने जेवर त्याग दिये तो मन्दिर में भगवान को जेवर का बन्धन क्यों? जमनालालजी बोले—भगवान सबके हैं, उनपर सबका हक है, फिर मन्दिर में ताले लगाओ, चौकीदार रखो, यह सब खट-पट क्यों? भगवान के मन्दिर में डर का क्या सवाल? लेकिन मन्दिर के ट्रस्टियों में शांताबाई और पुजारियों का आग्रह था कि मूर्ति के गहने न उतारे जायं।

एक दिन मोटी खादी के कपड़े पहने एक आदमी आया। दाढ़ी बढ़ी हुई, जैसे जेल से छूटकर आया हो। बोला—मैं दरजी हूं—कपड़े सिला लो। मैं बोली—भाई, हम तो क्या सिलावें, पर भगवान के कपड़े सी सको तो सी दो। हमारा दरजी मर गया है। चारभुजाजी की मूर्ति है।

वह बोला—हां, सी दूंगा। मैं बम्बई में रहा हूं, सब काम जानता हूं।

मैं उसे मन्दिर में ले गई। वह खड़ा-खड़ा देखता रहा। फिर बोला—कल आऊंगा और काम शुरू कर दूंगा।

मैंने कहा—अपने भगवान खादी पहनते हैं, खादी-भंडार घर में ही है, तुम आओगे तो खादी ले लेंगे।

दूसरे दिन सुबह चार बजे पुजारी पूजा के लिए उठे तो सब दरवाजे, सभामंडप खुले देखे, ताले-कुंडे टूटे हुए थे। हीरे, कड़े, कड़ियां, लक्ष्मीजी के जेवर, सब चोरी हो गये। हल्ला-गुल्ला मचाया। ५ बजे बापू को सेवाग्राम में फोन किया गया। बापू बोले—अच्छा हुआ। जमनालाल की चिन्ता मिट गई।

वह दरजी न तो दूसरे दिन आया और न फिर कभी दीखा ही।

करीव १५ दिन वाद फिर मन्दिर में चोरी हो गई। वापू को फिर फोन किया। मैं भी जाकर मिली—आखिर इतने मज़बूत ताले तोड़े कैसे ? वापूजी वोले—"अव तो जेवर पहनाना वन्द करो। अगर भगवान जेवरों से राजी होते तो चोरी ही क्यों होती ?"

पुजारियों को समझाया गया—वे मान गये कि एक तो जोखिम संभालो, दूसरे गांधीजी और जमनालालजी की भी यही राय है। अच्छा यही है कि जेवर हटा दिये जायं।

जमनालालजी की मृत्यु के वाद कमल ने कहा कि जब भगवान को जेवर पहनाना वन्द कर दिया है तो वचे हुए गहने वेचकर मन्दिर में पैसे जमा करा लेना चाहिए। मैं सेवाग्राम गई और वापूजी से वोली कि ठाकुरजी के जेवर चोरी हो जाने से जेवर पहनाना तो वन्द हो गया। चोरों की मेहरवानी से आपके मन की हो गई। कमल का कहना है कि जोखम रखने की वजाय उसे वेचकर पैसे मन्दिर में जमा कर दो। उससे व्याज ही आयगा। वापूजी हँसे और वोले—अभी नहीं वेचना।

मैंने आग्रह किया कि आप 'हरिजन' में लेख लिखें और मन्दिरों के सम्बन्ध में प्रचार करें। वापूजी ने कहा कि अभी समय नहीं आया है, मुझे लगेगा तव देख लूंगा। पर अभी तो जमीन में धातु पड़ी है, ऐसा समझकर भूल जाओ।

वस, फिर तो हम भूल ही गये और सारे सवाल ही खतम।

: १५ :

घूंघट हटा

वर्धा में अग्रवाल-महासभा का अधिवेशन होनेवाला था। अधिवेशन की सारी तैयारियां हो गई थीं। पंडाल वन गया था। निमन्त्रण-पत्र भेज दिये गए थे। उसी समय देश-भर में इन्फ्लुएंजा की बीमारी फैल गई। इस-लिए अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। फिर भी कुछ लोग निमन्त्रण पर आ ही गये।

जमनालालजी ने अपना जो भाषण तैयार किया था उसमें परदा-प्रथा के विरोध में कुछ लिखा था। वह जानते थे कि मैं तथा मेरी देवरानी आदि घूंघट काढ़ती हैं। जमनालालजी जो कुछ कहते थे, उसकी शुरुआत घर से करते थे। इसलिए उनकी हमपर नज़र जाना स्वाभाविक था।

हमारी स्थिति वड़ी विचित्र थी। घूंघट का संस्कार पुराना था। वह एकाएक छूटे कैसे ? घूंघट की प्रथा उस समय सब जगह थी और बहुत जगह तो अवतक भी है। राजस्थान में घूंघट प्रतिष्ठा, सभ्यता और कुली-नता का चिह्न माना जाता था।

श्रीकृष्णदासजी जाजू को जमनालालजी अपना बड़ा भाई मानते थे। उन्होंने जाजूजी से कहा, "आपको घर की औरतों से वात करनी चाहिए और उनमें संस्कार डालने चाहिएं। वे निचली श्रेणी यानी नौकर-चाकरों से ही वातचीत करती हैं। इससे उनमें ऊंचे विचार कैसे आयंगे ? आप-जैसे लोगों को संकोच छोड़कर उनके संकोच को दूर करना चाहिए।" पर जाजूजी तो जाजूजी ही थे। उनसे कोई वोले तो वे वोलें, अन्यथा चुप।

आखिर एक दिन जमनालालजी ने अपने पिता कनीरामजी को तैयार किया और हमसे कहा, "आपणे घर में घूंघट छोड़नो है, सो पेलीं काकाजी से ही शुरुआत करणी है। नीचे चालो, काकाजी नैं तैयार करके आयो हूं।"

मैंने अपनी देवरानी (गंगाविसन वजाज की पत्नी) से कहा, "वीनणी, सुसराजी के पास चालणो है।" उसने कहा, "जेठाणीजी आगै तो थानैं ही चालणों पड़सी।" वड़ा संकट था। हम कैसे उनके पास जातीं ? हम तो यह वात सुनकर पसीना-पसीना हो गईं। खैर, किसी तरह हम दोनों उनके पास नीचे गईं और प्रणाम किया, नहीं किया कि भाग आईं। उन्होंने हमको आशीर्वाद दिया, "सुखी रहो वेटा।" वह भी पसीने से तर हो गये। हमारे घर में यह घूंघट के अन्त और नवीनता के उदय का सन्धिकाल था। एक वार पहाड़ की चोटी पर पहुंच जाना सरल होता, समुद्र को लांघ जाना भी सरल होता, पर उस समय हमारे घर में ससुरजी के पास विना घूंघट के वोलने जाना वहुत वड़ी वात थी !

इसके वाद माथे पर वोर लगाना छूटा। उसके छूटने से घूंघट भी छूटने लगा और घाघरे भी लहंगों में वदलने लगे।

उस समय घाघरे चालीस से लगाकर पचास गज तक के होते थे और उनमें तीनसौ से लगाकर चारसौ तक कलियां होती थीं। चारसौ कलियों का घाघरा तो मैं भी पहन चुकी हूं।

मैं घूंघट में लज्जा का भाव देखती थी। समाज में घूंघट की ही प्रतिष्ठा थी। लेकिन मैं असुन्दरता के कारण भी चाहती थी कि मुंह ढंका रहे। पर जव मालूम हुआ कि घूंघट छोड़ने में ही प्रतिष्ठा है, तव मैंने हिम्मत की। लेकिन यह हिम्मत आने में वहुत कठिनाई हुई। अहमदावाद-कांग्रेस के समय भी कुछ घूंघट था। जव सावरमती-आश्रम में रहने गये तव वह पूरी तरह छूटा।

मेरा घूंघट छूट गया तो मुझे दूसरी वहनों का घूंघट खुलवाने की धुन लग गई। कई वहनों को मैं सभाओं में मंच पर घूंघट खुलवाकर खींच लाई। जहां-जहां मैं गई, मेरा यही काम हो गया। जो वहनें हिम्मत करके मंच पर घूंघट खोल देती थीं, उनमेंसे कुछ तो उसे निभाती थीं, कुछको समाज तथा परिवार के डर के मारे फिर घूंघट में रहना पड़ता था।

आज से वाईस वरस पहले कलकत्ता में मारवाड़ी-महिला-सम्मेलन हुआ था। वहांवालों ने मुझे उसकी अध्यक्षा वनाया। उस अवसर पर वापूजी ने वड़ा सुन्दर सन्देश वहनों के लिए घूंघट-प्रथा के वारे में दिया था—

वर्धा, २५-१०-३३

प्रिय भगिनि,

आप बहनों से परदा तुड़वाने के लिए कलकत्ता जा रही हैं, इसलिए धन्यवाद। परदा वहम नहीं है, उसमें मुझे पाप की बू आती है। परदा किससे रखें? क्या पुरुष-मात्र विषयासक्त रहते हैं? क्या स्त्री अपनी पवित्रता बगैर परदा नहीं रख सकती है? पवित्रता मानसिक बात है, सभी पुरुषों में सहज होनी चाहिए। यदि इस बुद्धि-प्रधान युग में स्त्री धर्म की रक्षा करना चाहती है तो उसे दरिद्रनारायण की सेवा करनी होगी, शिक्षण लेना होगा। दरिद्रनारायण की सेवा करने का अर्थ है—खादी-प्रचार, कातना इत्यादि। हरिजन-सेवा का अर्थ है—अस्पृश्यता-रूपी कलंक धोना। ये दो बड़े भगवान के कार्य हैं, और विद्या पाने का कार्य परदा रखने के साथ कभी नहीं चल सकता है।

परदा रखकर सीता रामजी के साथ जंगलों में भटकी होंगी? सीता से बड़ी पवित्र स्त्री जगत् में कभी हुई है? बहनों से कहो—परदा तोड़ो, धर्म रखो।

आपका

मोहनदास गांधी

अभी कुछ बरस पहले जब मैं विनोबाजी के साथ राजस्थान के दौरे पर गई थी तब भी बीकानेर-जैसे राजस्थानियों के गढ़ में मैंने सभा-मंच पर कुछ बहनों के घूंघट खुलवा दिये।

मैं मानती हूं कि परदा छोड़ना साहस की बात है; उससे दिल तथा दिमाग खुल जाता है। काम करने की हिम्मत बढ़ती है। लेकिन परदा छोड़ने का मतलब अगर स्वच्छन्दता या उच्छृंखलता हो तो उसे ठीक कैसे कहा जा सकता है? मुझे ऐसा लगता है कि पहले की बहनों में जो लाज-शरम और बड़ों की मर्यादा का भान था वह अपनाने-जैसी चीज है। सुधार हमको ऊंचा उठावे तभी उसकी सार्थकता है।

: १६ :

खादी का प्रवेश

जमनालालजी तो स्वदेशी कपड़ा पहनते थे, पर मेरे साथ सभी तरह का चलता था। नागपुर-कांग्रेस के समय जब गांधीजी वर्धा आये तब मैंने मोटी साड़ियां मंगाईं। मोटी साड़ी ही पहनकर मैं कांग्रेस में गई। मैंने सोचा कि मोटे कपड़े को ही खादी कहते होंगे। पर जब महादेवभाई ने कहा कि यह तो मिल का कपड़ा है, खादी नहीं, तब खादी और मिल के कपड़े की बात मेरी समझ में आई।

कांग्रेस से लौटने पर मैंने एक आदमी के साथ कुछ सूत कामठी भिजवाया और खादी बुनवाकर मंगवाई।

कामठी से जो खादी का थान बुनकर आया वह पनहे में छोटा था और मोटा भी था। पर उसे देखकर जो खुशी हुई, उसका वर्णन करना कठिन है। खादी तो आ गई, पर छोटे पनहे की होने से पहनी कैसे जाय? बीच में जोड़ लगाया गया और हलदी में रंगकर पहनी।

खादी की यह एक ही साड़ी थी। रात को पुरानी साड़ी पहनकर सो जाती और सुबह नहाकर खादी की साड़ी पहन लेती। तीन-चार दिन तक बिन धुली रहती थी। अब दूसरी साड़ी की चिन्ता हुई। हम तीन-चार बहनें अर्जुनलालजी सेठी के पास गईं और उनसे कहकर अहमदाबाद से खादी का एक थान मंगवाया। यह थान तो कामठी के थान से भी मोटा था। इस थान को भी हलदी से रंग डाला। अब मेरे पास दूसरी साड़ी हो गई।

गरमी के दिन थे। रात को इस साड़ी को पहनकर सोती तो अटपटी लगती। बेचैनी-सी रहती। ऐसा लगता कि टाट पर सो रही हूं। पर मन में यह भी भावना उठती रही कि सीताजी-जैसी राजकुमारी ने वल्कल धारण किया था, यह तो खादी है। इसके पहनने से कहीं खून निकला है,

या चमड़ी छिली है ? इसलिए तो अच्छी ही है। कई दिनों तक इसी तरह की भावनाएं मन में उठती रहीं।

जो कपड़ा बच गया था, उसके बच्चों के कपड़े सिलवा दिये। वर्षा की गरमी एक तो पहले ही तेज, ऊपर से ये मोटे कपड़े ! पसीने से बच्चों के अलाइयां उभर आईं। कोरी खादी पहनने से बच्चों की कोमल चमड़ी छिल गई। छाती में घाव-से हो गये। धोबी के यहां धुला लेने पर शायद कपड़ा मुलायम हो जाता। पर धोबी के यहां कैसे धुले, क्योंकि एक तो खादी के कपड़े कम थे, दूसरे धोबी से धुलाने में जल्दी फटने का डर था। पहली साड़ी मैंने ढाई साल तक पहनी और बाद में उसकी चादरें बनवा लीं।

कुछ दिन बाद जब मैंने खादी पहनने की बात दूसरी बहनों से कही तो कुछने मुझसे कहा, "आपके लिए क्या है, ज्यादा खर्च करके आप तो आन्ध्र की महंगी खादी भी पहन सकती हैं। हम इतनी महंगी खादी कैसे खरीदें ?" तब मैंने कहा कि मैं भी तुम्हारी तरह मोटी खादी ही पहनूंगी।

कुछ बहनों ने खादी पहनना मंजूर किया और मंगवा देने को कहा। उनके लिए खादी मंगवाकर हलदी में रंगकर उनके घर भेजने लगी। इससे हमारे यहां बहनों का आना-जाना कम होने लगा। वे आपस में चर्चा करतीं—"सेठानीजी तो विधवा-जैसे कपड़े पहनने की बात करती हैं। वहां कौन जाय ? गहने मत पहनो, कांग्रेस को पैसा दो और विधवा-जैसे कपड़े पहनो, यह कौन करे, बाबा ?"

जब खादी पहनना शुरू किया तब हमारे यहां घूंघट था। खादी मोटी होने से घूंघट में बड़ी कठिनाई होती थी। बापू से पूछा, "और सब अड़चनें तो निभ जायंगी, पर घूंघट काढ़ने पर दीखेगा कैसे ?"

इसपर बापू ने कहा, "खोजें जाति की औरतों की तरह आंखों की जगह जाली लगवा लो।" बापू की यह बात विनोद-भरी ही थी। बड़ी हँसी आई। बापू की इस बात में भी विशेषता है। घूंघट के विरोधी होते हुए भी उनके दिल में समाज और सामनेवाले की भावना का खयाल रहता था।

बाद में हम अहमदाबाद-कांग्रेस में गये। वहां खादी-प्रदर्शनी हुई थी। खादी की दूकानें देखीं। मुझे ऐसा लगा, मानो भूखे को रोटी या निर्धन को धन मिल गया। घड़ाघड़ खादी खरीदने लगी। खर्च का तो प्रश्न ही क्या

था। मैं तो खादी पर ऐसे टूटी, मानो आगे कहां दिखेगी। मन भरकर खूब खादी खरीदी और एक गट्ठा विस्तर की तरह बंधवा लिया। उन दिनों हमारे साथ सामान ढेर-सा होता था। जहां भी कांग्रेस में जाते, वहां चौका साथ चलता था और उसकी व्यवस्था के लिए सामान भी काफी ले जाते थे। नौकर-चाकर भी रहते थे। ऐसी धूमधाम रहती, मानो शादी ही हो। एक तो कांग्रेस की भीड़, फिर हमारे पास बहुत अधिक सामान का होना। इसलिए किसी चीज़ का छूट जाना सम्भव था। दैवयोग से खादी का वह गट्ठा ही छूट गया। नौकरों ने बहुत खोज-बीन की, पर गट्ठा लापता ही रहा। मैं तो एकदम सन्न रह गई। खादी खो जाने की बात कहने का डर भी था। और कहे विना रहती भी कैसे। अन्त में हिम्मत कर जमनालालजी से कहा ही। सुनकर उन्होंने कहा, "जो ज्यादा लोभ करते हैं, उनपर ऐसी ही बीतनी चाहिए। अच्छा ही हुआ। जो ले गया, वह भी खादी पहनेगा। खादी का ही प्रचार हुआ।"

: १७ :

चरखे की धुन

खादी और मोटे कपड़े का असली फर्क महादेवभाई ने समझाया और मुझे खादी की लगन लग गई। पर चरखा कातने को तो खुद बापू ने कहा। हम लोग बम्बई गये हुए थे। मणिभवन में पहले-पहल बापू के दर्शन हुए। वह चरखा कात रहे थे। मैंने उनसे पूछा, "सूत कातना अच्छा हैं ?" उन्होंने कहा, "सूत कातना बहुत अच्छा है।" उन्होंने यह बात इस ढंग से कही कि वह मेरे मन में जम गई। वर्धा आकर सासूजी (जमनालालजी की जन्ममाता) से कहा कि मुझे कातना सिखा दो, गांधीजी ने कहा है। उन्होंने दो-तीन दिन में सिखा देने को कहा। मैंने एक चरखा बनवाया, सात रुपये लगे। सात दिन में मैं सूत कातना सीख गई।

कातना सीखने पर मन में होने लगा कि दूसरों को भी सिखलाऊं। धीरे-धीरे घर पर साठ चरखे इकट्ठे कर लिये और कताई का वर्ग ही शुरू कर दिया। वर्ग में लड़के, लड़कियां सभी आते थे। समय की कोई पाबन्दी कैसी। जब भी जो आ जाता, सब काम छोड़कर उसे सिखलाने बैठ जाती। उत्साह भी असीम था। पर व्यवस्था के बारे में मैं ढीली ही रही और यही कारण है कि मैं किसीका समय न बांध सकी, न यह कह सकी कि चरखा या सामान ठीक तरह से रखा जाय। कोई पोनी को चरखे पर लगी छोड़ जाता, किसीका कचरा योंही पड़ा रहता, किसीकी माल टूट जाती तो किसीका तकुआ टेढ़ा हो जाता। इन सब कामों में जुट गई कि दूसरा कोई काम ही न सूझता था। भोजन में भी रात के आठ-नौ बज जाते। खाते-पीते भी कोई आ जाता तो थाली छोड़कर दौड़ पड़ती।

पहले-पहल सूत की कुकड़ियां निकालकर बापू के पास भेजीं। देख-

कर उन्होंने लिखा कि सूत को लपेटकर आंटी वनानी चाहिए। तब वैसा करने लगी।

सूत के ढेर लग गये। कुछ सूत कामठी वुनने के लिए भेजा, पर वाकी का सूत योंही पड़ा रहा। यह सूत वाद में विनोवाजी के पास भेज दिया।

सूत टूटता भी वहुत था। उसे जमा करती रहती। उससे तकिये और मसनन्द भरवाये गए। कताई का काम घर के वाहर भी चलता था, दूसरों के यहां जा-जाकर भी चरखे सुधारती और चलवाती। इस तरह ज्यादा-से-ज्यादा चरखे का प्रचार हो, यही वात मन में जम गई थी। लोग चरखा-तकली सीखने में उत्साह तो दिखाते, पर खादी-शास्त्र का अभाव होने से अच्छी तरह सूत कातकर कपड़ा वुनवाने में कठिनाई भी थी। धीरे-धीरे लोगों का उत्साह कम होने लगा। जो लोग समझ-बूझकर कातने लगे थे वे तो कठिनाइयों में से रास्ता निकालकर सूत का उपयोग करने लगे। वे अपने सूत की खादी वुनवा लेते और उनका कातना चलता रहा, पर जिन्होंने आन्दोलन के उत्साह में कातना शुरू किया था, वे लोग धीरे-धीरे कम होने लगे। जिन्होंने कातना कायम रखा, वे अव भी कात रहे हैं। आज भी जव कोई मुझे कातना सिखाने या चरखा सुधारने के लिए कहता है तो मेरा उत्साह जाग उठता है।

कताई के काम में मंदता रहने में पूनी की भी अड़चन रही है। अच्छी साफ़ पूनी के विना कातनेवाला ऊव जाता है। इसका मुझे अनुभव हुआ। जवसे मैं वजाजवाड़ी की खेती की ओर ध्यान देने लगी तबसे मैं इसका भी ध्यान रखने लगी कि पूनी के लिए अच्छी किस्म की कपास वोई जाय। कपास मैं स्वयं वच्चों तथा नौकरों से चुनवाती हूं। इस तरह की चुनवाई में काफी समय लग जाता है। कपास चुनने के वाद हाथ से उसकी रुई निकालते और पूनियां बनवाते। इन पूनियों से मैं खुद कातती, घरवालों को देती और कुछ नियमित कातनेवाले भी ले जाते।

मेरी इच्छा यही रहती कि इतनी मेहनत से तैयार की गई रुई का अच्छा उपयोग हो। इसलिए पिछले दो-तीन साल तक रुई मेरे पास रखी रही। मेरे देवर ने कई बार कहा कि घर रुई क्यों रखती हो, जीन में

भेज दो, यहां तो चूहे वगैरा खाते हैं, खराब करते हैं। पर मैं वहां कैसे भेजती। किसी संस्था को देने में मुझे अच्छा लगता। इस वर्ष मैंने अपनी तीन साल की कपास गोपुरीवालों को दे दी।

इस साल मैंने २५ सेर पूनी बनाईं। कपास चुनने और पूनी बनाने के काम में मेरा चार-पांच महीने का समय लग गया। पूनियां बहुत महंगी दिखाई दीं, पर हम सब लोग यह काम फुरसत के समय करते रहते हैं, इसलिए समय का भी उपयोग हो जाता है और अपने हाथ के काम में आनन्द भी आता है। मुझे तो ऐसे काम में प्रार्थना से भी अधिक आनन्द आता है।

गांधीजी के एक शब्द ने जो धुन लगा दी थी, वह अबतक बराबर चल रही है।

: १८ :

विदेशी कपड़ों की होली

जब कांग्रेस के सभासद बनाने की बात सामने आई तब मैं भी उसमें जुट पड़ी। बहनों को घर-घर जाकर सदस्य बनाना शुरू कर दिया। मेरे इस काम से बहनों में जरा घबराहट हुई। जो मुझे पहले आदरपूर्वक बुलाती थीं और जो जान-पहचानवाली थीं वे भी अब बिदकने लगीं। दरवाजे बन्द कर लेतीं और कहलवा देतीं कि घर पर नहीं हैं। कुछ बहनें साफ-साफ भी कह देतीं या कहलवा देतीं कि सेठानीजी आप हमारे यहां मत आना। बात चंदे की बजाय, औरतों के नाम लिखाने और अंगूठा कराने की भी थी। इसलिए कठिनाई तो थी ही। सबसे अधिक सदस्य हरिजन मुहल्लों में बने। वे हमें प्रेम से बुलाते, आदर करते और पूरा मुहल्ला सदस्य बन जाता। ये लोग पैसे की थैलियां भरकर देते थे। पहले के संस्कारों के कारण हरिजनों के मुहल्लों में झिझक तो होती थी, पर काम की धुन में हम वहां भी पहुंच जातीं। धीरे-धीरे विचारों में परिवर्तन हुआ, पर हरिजनों के साथ मेल-मिलाप की बात आचार में आने में अब भी कठिनाई का अनुभव करती हूं। संस्थाओं में हरिजनों के साथ उठना-बैठना खाना-पीना होता था। पर घर जाकर स्वच्छता के संस्कारों के कारण ऐसा करने में कठिनाई मालूम होती है। उन दिनों हरिजन तथा गरीबों में कांग्रेस के प्रति ज्यादा प्रेम था और सामान्य जनता में उत्साह था।

कांग्रेस के सदस्य बनाने के बाद कांग्रेस के काम और प्रचार की शुरुआत हुई। मैं हर शनिवार को एक सभा करती और उसमें कांग्रेस की बातें समझाती। इसी समय विदेशी कपड़ों की होली की बात सामने आई। जमनालालजी ने मुझसे कहा, "गांधीजी का कहना है कि विलायती कपड़ा

राक्षस के रूप में अपने देश में पड़ा है। इस पाप को हिन्दुस्तान में से निकालना है। अपने घर में भी एक टुकड़ा न रहे।" गांधीजी की बात का असर उनपर हुआ और उनकी बात का मुझपर। अब यह काम कैसे करूं? घर में, दूकान में, मन्दिर में, सब जगह विलायती कपड़े थे। सबकी सफाई कैसे की जाय? जमनालालजी से सलाह की। उन्होंने कहा, "ऐसा भी विचार चल रहा है कि नये कपड़े शायद बाहर भेजे जायं।" इसलिए मैंने नये कपड़े एक तरफ जमा किये और पहनने के एक तरफ। होली का समय नज़दीक आते ही कपड़ों पर से जरी और गोटा-किनारी फाड़-फाड़कर अलग निकाली गई। मन्दिर की पोशाकें भी बाहर निकाली गईं। जहां-जहां विलायती कपड़ा दीख पड़ा, निकाल दिया। घर के कपड़े निकाले, दुकान से वे कपड़े निकाले, जो विवाह-शादियों के अवसर पर वर के लिए खास तौर पर तैयार होते हैं। चपरासियों के कपड़े निकाले और गणगौर के कपड़े भी निकाले। बच्चों ने अपनी गुड़ियों के कपड़े भी लाकर दे दिये। फर्नीचर पर लगे हुए कपड़े फाड़-फाड़कर इकट्ठे किये गए; यहांतक कि जमनलालजी के विवाह की पगड़ी, कसूंबी बागा आदि जो शकुन के कपड़े अलग बंधे थे, वे भी निकाले गये। मांगलिक वस्त्रों को होली में होमते समय मन में झिझक तो हुई, पर बाद में मन को पक्का कर लिया और सोच लिया कि इन कपड़ों के जलाने से उम्र थोड़े ही कम होती है! ये कपड़े घर में कैसे रखे जा सकते थे? पाप को घर में कोई थोड़े ही रखता है? विवाह के समय वर पर जो छत्र लगाया जाता है उसे कैसे जलाया जाय! जब हम स्वराज्य लेने चले हैं तब छत्र तो शुभ है। मैंने उसे मगनवाड़ी के कुएं में सिरा दिया।

सब कपड़ों को इकट्ठा करके और सजाकर जुलूस निकाला गया। गांव के लोगों ने भी अपने-अपने कपड़े उसमें डाले। लोगों ने ज्यादातर तो टोप ही डाले। टोप के बारे में उपयोगिता की जगह उसके विलायती रूप का ही भाव अधिक था। कपड़ों में जरी के और रेशमी कपड़ों को देखकर लोगों को बड़ा दर्द हुआ और कहने लगे कि इन कीमती कपड़ों को जलाने से क्या फायदा होगा? हमें ही दे दो। लेकिन विलायती कपड़ा तो हिन्दुस्तान का पाप है। पाप कैसे बांटा जा सकता है? पाप तो जलाने की

ही चीज़ होती है। अन्त में सब कपड़ों की होली की गई। होली में जरी के भी बहुत-सारे कपड़े थे। इनमें मन्दिर की पोशाकें और घर के कपड़े भी थे। जरी अलग से निकल जाय, इसलिए गांधी-चौक में दोनों चबूतरों पर दो होलियां जलाई गईं। हमें तो चांदी का खयाल ही क्या रहता, पर कनीरामजी दादाजी को इसका खयाल आ गया। उन्होंने रात-भर पहरा दिया और उसमेंसे करीब ढाई सेर चांदी निकाली गई।

मुख्य होली के बाद सात दिन तक छोटे-बड़े कपड़े निकलते रहे और होलियां होती रहीं। होली की हवा बच्चों तक में फैल गई। मेरी बच्ची ओम् उस समय डेढ़-दो वर्ष की थी। वह भी अपने शरीर के वस्त्रों को 'या तो खादी कोनी, या तो खादी कोनी' (यह खादी नहीं है) कहकर फाड़ती रहती थी।

: १९ :

झण्डा-सत्याग्रह

१८ मार्च, १९२३ की वात है। जवलपुर में कुछ स्वयंसेवक राष्ट्रीय झण्डा फहराते हुए छावनी की ओर वढ़ रहे थे। महात्माजी के कारावास-दिवस पर यह जलूस निकला था। पुलिस ने उसे उधर जाने से रोक दिया।

राष्ट्रीय सप्ताह में जलियांवाला वाग के हत्याकाण्ड की याद में जव नागपुर में जुलूस निकला और वह सिविल लाइन में जाने लगा तव वहां स्वयंसेवकों को पीटा गया। उन्हें पकड़कर मुकदमा चलाया गया और दो-दो महीने की सजा दी गई।

इस घटना पर विचार करने के लिए वर्धा के सत्याग्रह-आश्रम में प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी की सभा हुई। आश्रम तवतक आज के वजाजवाड़ी के स्थान पर था, जिसे पहले घास का वंगला कहते थे। सत्याग्रह करने का निश्चय हुआ। सत्याग्रही भेजकर सत्याग्रह को जोरों से चलाने का भार जमनालालजी, वावासाहव वेरूलकर तथा भगवानदीनजी ने लिया। १८ मई को सत्याग्रह नागपुर से शुरू हुआ। जमनालालजी ने प्रतिदिन कम-से-कम दस आदमी तैयार करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। उस समय स्वयंसेवक तैयार करना वड़ा कठिन था। अगर पुरुप और लड़के तैयार हो जाते तो स्त्रियां और माताएं रोकतीं। इतनी कठिनाइयां होते हुए भी जमनालालजी ने काफी स्वयंसेवक तैयार किये। पर थोड़े ही दिनों में जमनालालजी स्वयं गिरफ्तार हो गये और उन्हें १८ महीने की सजा तथा तीन हजार रुपये का जुरमाना हुआ।

उनकी यह पहली गिरफ्तारी थी। इससे वर्धा-भर में सन्नाटा छा गया। उस समय तक जेल के वारे में लोगों में यही मान्यता थी कि वहां

तो चोर, डाकू और खूनी अपराधी ही जाते हैं और जेल में भयानक कष्ट दिये जाते हैं। जेल जानेवाला समाज की नजरों में गिर जाता था। देश-भक्ति में भी लोग जेल जा सकते हैं, इसकी कल्पना जनता को उस समय कहां थी ! इसलिए जमनालालजी के जेल जाने की बात से घर के नौकरों-चाकरों तथा गांव के लोगों में हाहाकार मच गया।

जुरमाना न देने के कारण हमारी मोटर और घोड़ागाड़ी जब्त कर ली गई। पर उनके लिए सारे मध्यप्रदेश में कोई बोली बोलनेवाला न मिला। अन्त में मोटर को सौराष्ट्र में ले गए। सौराष्ट्र तब काठियावाड़ कहलाता था और वहां बहुत छोटे-छोटे राज्य थे। किसी राज्य के अंग्रेज अधिकारी को वह मोटर कुछ सौ में बेची गई। जमनालालजी की गिरफ्तारी के बाद सत्याग्रह का काम सरदार वल्लभभाई पटेल ने सम्हाला। चारों ओर से जेल जाने के लिए लोग आने लगे। कुछ स्त्रियों के साथ बापूजी के कहने से कस्तूरबा और मणिबहन पटेल सत्याग्रह के लिए पहुंचीं। यह सत्याग्रह बड़ा सफल रहा। सार्वजनिक रूप से किया गया यह पहला सत्याग्रह कहा जा सकता है। जब जमनालालजी को १८ महीने की सजा हुई तो राजगोपालाचारी ने कहा कि आज वर्धा ऐसा लग रहा है मानो राम वनवास गये हों।

अन्त में सत्याग्रह की विजय हुई और गोकुल-अष्टमी के दिन सबके साथ जमनालालजी जेल से छूटे। गांव-भर में आनन्द की लहर दौड़ गई। लोग सड़कों पर उत्साह से इधर-उधर घूमने लगे और कहने लगे—"कृष्ण जन्मला, आणि सेठजी सुटले ।"

वर्धा में जमनालालजी के स्वागत की तैयारियां होने लगीं। सारा शहर सजाया गया। लोगों में अपूर्व उत्साह था। वह दोपहर को वर्धा आये। स्टेशन पर हज़ारों लोग उनके स्वागत के लिए गये। उन्हें देखकर लोगों के हृदय भर आये। उनका जुलूस निकाला गया और माताओं और बहनों ने अबीर-गुलाल लगाया, कुंकुम लगाया, घी-शक्कर मुंह में दी।

घरों के सामने लोगों ने अपने-अपने पास जो चीज़ थी, उसीके तोरण लगाये। बरतनवालों ने बरतनों के, कपड़ेवालों ने कपड़ों के, किरानेवालों ने किराने की चीज़ों के और मालिनों ने हरी मिर्च, शाक-सब्जी के तोरण

लगाये। अपूर्व सजावट थी। मालाओं और फूलों का तो ठिकाना ही क्या था! ऐसा अपूर्व स्वागत देखकर आंखें तृप्त हुई जा रही थीं।

यद्यपि जमनालालजी को 'ए' श्रेणी में रखा गया था, तथापि उन्होंने सबके साथ 'सी' श्रेणी का खाना खाया था। उनके जीवन में यह पहला ही अवसर था, जब उन्होंने विना घी-दूध के केवल ज्वार की रोटी खाई और इतना कष्ट उठाया। इसका शरीर पर ऐसा परिणाम हुआ कि लोगों के लिए देखना भी असह्य हो गया। चरवी सूख गई थी। कोमल और सुन्दर चेहरे पर लाली के वदले कालिमा छा गई थी। दाढ़ी वढ़ गई थी और शरीर सूखकर कांटा हो गया था। उन्होंने जब घर के कपड़े पहने तो ऐसा लगा मानो किसीके मांगे कपड़े पहने हों।

उनके मित्रों ने कहा कि यदि यह मालूम होता कि दो महीने में छूट आयंगे तो हम भी साथ-साथ जाते। इसपर वह हँसकर वोले कि यह कैसे कहा जाता कि दो महीने में छूट जायंगे। तैयारी तो लम्बी ही करनी चाहिए।

जव जमनालालजी छूटकर आये तव उनके साथ वे १५०० साथी भी आये, जो जेल से छूटे थे। भोजन की व्यवस्था के लिए पहले ही तार आ गया था, सो भोजन शाम को तैयार था। उन दिनों घर में वगीचे के वहुत-से कद्दू आये हुए रखे थे। शाम को कद्दू का साग वना। दूसरे दिन भी कद्दू का ही साग वनवाया और तीसरे दिन भी जव उसीका साग वना तो जमनालालजी को वहुत रंज हुआ। वह वोले, "तीन दिन से एक ही तरह का साग वनता है। क्या गांव में दूसरा साग नहीं मिलता? यह क्या बात है? जेल में तो एक तरह का साग मिलता ही था।" मैंने कहा, "जी, घर में खेती का साग आया था, इसलिए वही वनवा लिया।" तव वह वोले, "ये लोग क्या रोज-रोज अपने घर में आनेवाले हैं।" यह वात उन्होंने इतने दर्द के साथ कही कि मुझे भी छू गई और मुझे भी दुख हुआ, लेकिन अव हो क्या सकता था!

: २० :

बड़ों की वेदना

मनुष्य-मात्र हरि के जन ! बापू के इन विचारों को सुनने के बाद जमनालालजी को लगा कि वर्धा का लक्ष्मीनारायण मन्दिर हरिजनों के लिए खोल दिया जाय। लेकिन मन्दिर-जैसी संस्था पर तो समाज का हक होता है। पांच वर्ष तक मन्दिर-कमेटी के लोगों को समझाया पर वे तैयार नहीं हुए। अन्त में जमनालालजी ने फिर आग्रह किया कि मन्दिर हरिजनों के लिए खोल दिया जाय। लोग कहने लगे—थोड़ा और रुको। जमनालालजी बोले—५ साल तक मैंने आपको खूब मौका दिया, अब मैं नहीं रुक सकता। और सही बात तो यह है, आप लोग हर बात का विरोध करते हैं। मैंने आपसे खादी पहनने की बात कही—आप नहीं माने। खादी में तो धार्मिकता भी है। अब सब चुप। तब जाकर मन्दिर के ट्रस्टी हरिजन-प्रवेश के लिए राजी हुए। जमनालालजी खुश हुए और उन्होंने मन्दिर हरिजनों के लिए खोलने का फैसला कर दिया।

तरह-तरह की बातें होने लगीं शहर में—सुबह हरिजन-प्रवेश होगा, मन्दिर में डण्डेबाजी होगी, बांसों से स्वागत होगा, वगैरा। मैं कुछ घबराई। जमनालालजी से कहा—'लोग बांसों से मारेंगे, आप ही सबसे लम्बे हो तो आपके ही सिर में लगेगी।' जमनालालजी बोले—'डरने की क्या बात है, अच्छा कार्य तो करना ही है, फिर उसकी कुछ भी कीमत क्यों न देनी पड़े।'

दूसरे दिन मन्दिर में हरिजन-प्रवेश हो गया। थोड़ी-बहुत ऊधमबाजी हुई। लेकिन जैसी आशंका थी, वैसा नहीं हुआ। दो-चार आदमी डण्डे वगैरा लेकर आये थे और उन्होंने विरोध भी किया। लेकिन बाद में तो इन आदमियों का भी ऐसा हृदय-परिवर्तन हुआ कि बस ! जब जमनालालजी की

मृत्यु हुई तो ये लोग बहुत रोये। कहते थे—हम लोग हमेशा सेठजी को सताने में ही रहे, लेकिन उन्होंने हमारे दिलों को प्यार से जीत लिया।

मैं जब घूंघट निकालती थी तब एकदम राजपूतनियों की तरह और जब छोड़ा तब ऐसा कि लोगों में जाकर व्याख्यान भी देने लगी। यह बात घर के बड़ों को और बूढ़ी औरतों को अखरने लगी। जमनालालजी की मामी कहने लगीं—"पड़दो कर्यो तो इश्यो कर्यो के कोई नख भी देख नईं सके, और छोड्यो तो इश्यो छोड्यो के मोट्यारां की सभा में व्याख्यान छांटे लागी!" मैंने हंसकर जवाब दिया—"थैं तो व्याया जद सैं जाओगा जठ तांई अयांकाई केवोगा और म्हारा तो सात जनम एकई जनम में पूरा हो जासी।"

मेरे ससुरजी कनीरामजी को भी मेरे घूंघट खोलकर कांग्रेस के काम में पड़ने से कुछ तकलीफ-सी होता थी। वह मुझसे बचने लगे। मैं निकलती तो खुद ही मुंह फेर लेते। मेरे प्रति तो उन्हें अन्त तक सहानुभूति ही रही। वह मानते थे कि मैं जो कुछ कर रही हूं वह जमनालालजी के कहने से ही। कनीरामजी का अपने बेटे पर भी ऐसा स्नेह था कि वह उन्हें भी क्या कहते। पर उनको गुस्सा था गांधीजी पर। उनका खयाल था कि घर में यह जो कुछ हो रहा है, उसकी जड़ गांधीजी हैं। उन्हें गांधीजी की खादी तो अच्छी लगती थी। कहते थे—"खादी तो देश का जीवन है।" खुद खादी पहनते थे। मेरी सास ने तो ढेरों सूत कातकर कपड़े बनाये थे। पर उन्हें गांधीजी की दूसरी बातें अच्छी कैसे लगतीं! मेरा गहना उतार देने से मेरी सास को तकलीफ हुई। वह कहतीं, "या टाबर तो सगला गेणां खोल दिया और म्हे पेरां, चोखो कोनी लागे।" इस तरह स्वाभाविक रीति से गहना कुटुम्ब में कम होता गया।

ससुरजी देवली जीन में रहते थे। मैं एक बार देवली में व्याख्यान देने गई और मैंने व्याख्यान में कहा कि तमाखू-बीड़ी पीना गांधीजी मना करते हैं। जब ससुरजी ने यह बात सुनी तो कहा—"बींदणी तो लोगों ने तमाखू पीणे से बरजे है तो मैं कियां पीऊं?" बस उसी दिन से उन्होंने हुक्का पीना छोड़ दिया।

केवल कुटुम्बियों को ही नहीं, घर के जोशी तथा नौकरों को भी दर्द

होता था। यों घर के जोशीजी एक प्रकार से कुटुम्ब के ही माने जाते थे। वह खादी तो सेठजी के साथ शुरू से ही पहनते थे। हमारे कुटुम्ब के सिवा दान-दक्षिणा उन्होंने कभी और किसीसे नहीं ली। उनको जब मालूम हुआ कि घूंघट छोड़कर मैं बाहर कांग्रेस के कामसे घूमने लगी हूं तो वह मेरे सामने आने से घबराने लगे। जिधर से मैं निकलती, उधर छिप जाते कि कहीं मैं बोल न लूं। उन्होंने कहला दिया कि मेरे सामने सेठानीजी न आवें और न बात करें, नहीं तो मैं या तो कुएं में गिर जाऊंगा या वर्धा ही छोड़ दूंगा। जोशीजी परम्परा-प्रिय थे और घूंघट में ही वह प्रतिष्ठा देखते थे। उनको मैं भी टाल ही देती हूं।

जोशीजी मन्दिर में कोठार का काम देखते थे, लेकिन जब मन्दिर में हरिजनों का प्रवेश हुआ तब उन्होंने बड़े दुख के साथ मन्दिर को छोड़ दिया। खादी तो पहनते रहे, लेकिन गांधीजी की भरपेट बुराई करते रहे। गांधीजी के स्वर्गवास के बाद गाली आदि देने में कमी हो गई और खुशी की बात है कि अभी-अभी जमनालालजी की ग्यारहवीं श्राद्ध-तिथि के दिन से जोशीजी मन्दिर में भी आने लगे। अब वह कहते हैं, "मुझे सेठजी की प्रेरणा ही मन्दिर में ले आई।" जमनालालजी के लिए गांधीजी की निन्दा बरदाश्त से बाहर थी। फिर भी वह इन जोशीजी तथा इनके परिवार को तो अंततक निभाते ही रहे और अब भी निभाया जा रहा है; क्योंकि इन जोशीजी ने बैठे ही खाया। हर आदमी में सरलता होती है, पर संस्कारों और रूढ़ियों के कारण वह कभी-कभी ढक जाया करती है। समय और परिस्थिति की अनुकूलता से ही विकास होता है। मुझे उस दिन जोशीजी के मन्दिर जाने की बात से बड़ी खुशी हुई।

इसी तरह हमारे यहां छोटूजी नाम का रसोइया था। १४ साल की उम्र से हमारे यहां काम करता था। सारी उम्र हमारे ही यहां बिता दी। वह भी घर का-सा ही था। घर का इतना खयाल रखता था कि कहता, "बच्छराजजी वोत दोरो कमायो है, सेठजी लुटाय रया है। सेठजी ने कांई समझ है, या गांधी टोपीवाला वेने बिगाड़ देसी।" मुझे कोठार तक में घुसने न देता। कहता, "अठे गरमी है, थें ऊपर चालो।" पीछे कहता, "ये बामणियां आई, ठगने ले जासी।" उसे मेरे तथा बच्चों के खाने-पीने का

बहुत खयाल रहता था। पर वह दूसरों को भी ऐसे खिलाता जैसे वे घर पर ही खा रहे हों। भले ही सौ आदमी आ जायं, पर अकेला भोजन करा देता। सदा 'हां' ही कहता। वह कहता—"सेठजी को घर भर्यो पड्यो है, अठे नई क्यूं ?" थोड़ी-थोड़ी सब चीज वह घर में सम्हालकर रखता। कभी आदमी ज्यादा आ जाते और साग कम पड़ जाता और जीमनेवाला साग मांग लेता तो वह 'ना' न कहकर दाल या कढ़ी परोस देता। जीमनेवाला कहता कि दाल नहीं चाहिए, साग चाहिए, तो दाल या कढ़ी डाल देता। अन्त में मांगनेवाला थक जाता, पर वह 'ना' कहना जानता ही नहीं।

जब प्रसूती के समय वह ऊपर मेरे कमरे में थाली देने आता, नर्स या डाक्टरनी कहती, "महाराज, अन्दर ले जाओ।" पर मेरे सोते रहते वह अन्दर कैसे आये ? और थाली दूसरे को देना नहीं चाहता था, क्योंकि उसे डर रहता था कि कहीं नजर न लग जाय। इसलिए आटा ढंकने का कपड़ा लाता, उससे अपनी आंखें ढक लेता और थाली रखकर चला जाता। मेरी तरफ देखता ही नहीं।

: २१ :

मेरी ननद और उनके बच्चे

मेरे तीन ननदें थीं, जिनमें छोटी जाती रही। बाकी की दो ननदों में से एक केशरबाई और दूसरी गुलाबबाई थीं। गुलाबबाई का विवाह लोसल में श्री डेडराजजी खेतान से हुआ था। उनकी गोद खाली थी, पर उन्होंने दूसरों के बच्चों को पाला। केशरबाई की शादी करीब १२ वर्ष की उम्र में फतेहपुरवाले जोरावरमलजी पोद्दार के साथ हुई। वह लम्बे, सुडौल, सुन्दर और भले स्वभाव के थे। अपनी विधवा चाची की गोद गये थे। फतेहपुर में ही चाची का पीहर था। चाची का नाम भूरीबाई था। भूरीबाई के पीहरवाले भी धनी थे और भूरीबाई के पास भी धन था। वे शक्की और तेज स्वभाव की थीं। उन्हें सदा यही शक रहता कि गोद का लड़का कहीं उनके असर के बाहर न हो जाय। इसलिए वे जोरावरमलजी को किसीसे ज्यादा हिलने-मिलने या बात नहीं करने देतीं। वे किसीके साथ प्रेम से रहें, यह उन्हें न सुहाता। विवाह के बाद लड़का अपनी पत्नी के कहे में न हो जाय, इसलिए वह पहले ही से अपनी बहू की बुराई करने लगीं। जोरावरमलजी को केशरबाई से बात भी न करने देतीं। कहतीं, "यह तो गांवड़े की है। इसमें कुछ भी अक्ल नहीं है, मूर्ख है।" केशरबाई से बहुत काम करवातीं, उन्हें कष्ट भी देतीं। इस तरह चार-पांच वर्ष निकल गये। केशरबाई कुछ भोली थीं। उनका सारा बचपन काशीकावास में ही बीता था।

जमनालालजी की अपने कुटुम्बियों को हमेशा सुखी बनाने की इच्छा रहती। केशरबाई के कष्ट की वजह से उनके माता-पिता को भी क्लेश बना रहता। उसको हलका कराने के लिए वे हमेशा ही प्रयत्न किया करते।

केशरबाई पर होनेवाले अन्याय से घर के सारे लोग हैरान थे। इसपर

भी भूरीवाई ने जोरावरमलजी का दूसरा व्याह करने का निश्चय कर लिया। जव यह वात मालूम हुई तो जमनालालजी ने सीकर के रावराजा-जी को तार देकर विवाह को रुकवा दिया और जोरावरमलजी का केशर-वाई से मेल-मिलाप कराने के लिए देस गये। सीकर रहकर उन्होंने अनेक प्रयत्न किये, लेकिन कोई सफलता न मिली। क्योंकि भूरीवाई ने उनकी वात जोरावरमलजी से होने ही न दी। हताश होकर जमनालालजी सीकर से कुछ पंचों को लेकर फतेहपुर गये। दो महीने तक सव तरह से कोशिश की, मिन्नतें कीं, पर भूरीवाई टस-से-मस न हुई। जोरावलमलजी का घर से वाहर निकलना कतई वन्द कर दिया गया। यह वहाना वताती रहीं कि जोरावर 'मधुरा' (विपम ज्वर) से वीमार है और यह डर वताकर कि कहीं किसीकी 'छोत' न पड़ जाय, किसीको घर में भी नहीं आने देतीं।

राजवाले गांव के लोग, यहांतक कि जोरावरमलजी के जन्म के माता-पिता, वड़े सज्जन थे और जमनालालजी के पक्ष में थे, लेकिन थे लाचार। करते भी क्या ? एक तो भूरीवाई तेज स्वभाव की थीं और फिर रहीं विधवा ! वे वुरी-वुरी गालियां देती रहतीं। सभी चाहते थे कि समझा-वुझाकर रास्ता निकल आवे तो अच्छा। जव कोई भी प्रयत्न सफल होता दिखाई न दिया तो राजवालों ने एक युक्ति रची। भूरीवाई के पास पीहर की लुगाई आती-जाती थीं। एक रात को लाठी लिये पचास राजपूतों को लेकर जमनालालजी गये, साथ में हमारी नौकरानी को भी लेते गये। उसने दरवाजे के पास जाकर 'भूरीवाई-भूरीवाई' करके आवाज लगाई। भूरीवाई ने यह समझकर कि उनके पीहर से कोई ब्राह्मणी आई है, जोरावरमलजी को दरवाजा खोलने को कहा। जोरावरमलजी ने दर-वाजा खोलकर ज्योंही एक पैर आगे को रखा कि जमनालालजी ने उनका हाथ पकड़कर वाहर खींच लिया और राजपूत उन्हें घेरकर अपने डेरे पर ले जाने लगे। कुछ गड़वड़ी की आहट सुनकर भूरीवाई वाहर आईं और जव उन्होंने देखा कि जोरावर को ले जा रहे हैं तव वड़े जोरों से चिल्लाने लगीं, "वेटा तू कठ जावे है ?" और पीछे हो लीं। जोरावरमल अपनी मां को ढाढस वंधाने के लिए वोले, "मां, तू आगे मत ना आव। म्हारे सागे म्हारो सालो है।" जोरावरमलजी वड़े संकोची और शर्मीले थे, पर भूरी-

बाई कैसे मानतीं ? वह रोती-चिल्लातीं और बीच-बीच में गालियां देती पीछे-पीछे आने लगीं। गालियों से उत्तेजित होकर कुछ राजपूतों ने जमनालालजी से कहा कि इसका सिर फोड़ दें। पर जमनालालजी ने बीच में पड़कर स्थिति संम्हाली। ये लोग अपने डेरे—हीरालाल रामगोपाल के नोरे में आ गये। जोरावरमलजी को जमनालालजी ने अपने चौबारे (कमरे) में ही साथ सुलाया। नीचे पहरा था ही। काफी देरतक भूरीबाई चिल्लाती रहीं। फिर वह थाने में गईं, पर वहां भी उनकी सुनवाई नहीं हुई, तो दुबारा आकर वह रोने लगीं। यह देख जमनालालजी को दया आ गई। उन्होंने पूछा कि वे क्या चाहती हैं। भूरीबाई बोलीं, "मुझे मेरे बेटे का मुंह दिखा दो।" यह पूछने पर कि फिर तो चली जाओगी न, उन्होंने कहा कि मुझे एक घंटा उससे बात करने दो। दुबारा पूछने पर कि बाद में तो चली जाओगी न, भूरीबाई बोलीं, "मेरे घर एक घंटा बात करने को जोरावर को भिजवा दो।" तब चार आदमियों को साथ देकर जोरावरमलजी को भूरीबाई के साथ भिजवा दिया और एक घंटा होते ही ले आये।

जमनालालजी दूसरे दिन ही सीकर और वहां से वर्धा के लिए रवाना हुए। केशरबाई और मैं तो रथ में बैठीं। जोरावरमलजी और जमनालालजी ऊंट पर चढ़े। भूरीबाई कुछ दूर तक पीछे-पीछे आईं और कहने लगीं, "हे जमनालालजी, अब थारी भेण ने राजी राखसुं। थें जोरावर ने और थारी भेण ने म्हारे पास छोड़ जाओ। म्हें थारी गाय हूं।" जमनालालजी ने कहा, "मांजी, एकबार तो म्हानें वर्धा जाण दो। फेरूं थारे कन्हें भेज देस्यां।" हम लोग सीकर आये। वहां मेरे सास और ससुर का आशीर्वाद लेकर वर्धा के लिए चल पड़े।

वर्धा में मैंने केशरबाई को अच्छी तरह से नहलाना-धुलाना, रंगीन छापे की साड़ियां पहनाना और ठीक ढंग से रहना आदि शुरू करवाया। यों तो दोनों में कोई बात थी नहीं, पर सारा अड़ंगा भूरीबाई का था और धीरे-धीरे दोनों प्रेम से और अच्छी तरह से रहने लगे। एक-आध महीने के बाद ही भूरीबाई वर्धा आईं और गांव में अलग रहकर यह कोशिश करने लगीं कि जोरावर-केशर को उनके साथ भेज दिया जाय। लेकिन उनकी बात कौन सुनता ! कुछ दिन बाद जमनालालजी ने ही सोचा कि जोरावर-

मल और केशरबाई को एक बार भेज देना ठीक होगा। उन्होंने जोरावर-मलजी को जाने के लिए कहा। जाते समय जमनालालजी ने जोरावरमलजी से कहा, "तुम्हारी मां को और केशर को ठीक ढंग से रखने की ज़िम्मेदारी तुम्हारे ऊपर है। थोड़े रोज देस रहकर तुम दोनों को लेकर बम्बई चले आना। वहां व्यापार-धन्धा करने का कुछ सोचेंगे।"

कुछ महीने देस में रहकर वे बम्बई आये। पांच-छः साल तक वे वहां रोजगार करते रहे और बीच-बीच में देस आते-जाते रहे। इसी बीच में उनके तीन बच्चे हुए। उनके नाम प्रह्लाद, नर्मदा और श्रीराम रखे गये। बाद में उन सबको वर्धा बुला लिया गया। इन लोगों के वर्धा आने से हमें बड़ी खुशी हुई। मैं शादी के बाद अकेली ही रहती थी। जब मैं अपने ममिया ससुर बिरदीचन्दजी पोद्दार के घर जाती तो उनका घर भरा-भरा लगता। केशरबाई के आ जाने से हमारे घर में मेरे तीन और केशरबाई के तीन, ऐसे छह बच्चे हो गये। घर में चहल-पहल हा गई और घर भरा-भरा भी लगने लगा तथा केशरबाई के रहने से मेरा अकेलापन दूर हो गया। मैं केशरबाई को पढ़ाना-लिखाना और सीना-पिरोना बड़े चाव से सिखाने लगी और गांव की दस-पांच दूसरी लड़कियां भी आने लगीं।

मैं चौके में से ऊपर ही भोजन मंगवा लेती और सब बच्चों को साथ बैठाकर खिलाती। प्रह्लाद सबसे सुन्दर था। उसके चेहरे को देखती तो वह बहुत ही सुहावना लगता। बच्चों की पढ़ाई घर पर ही शुरू हुई। पढ़ने का कमरा अलग से बनाया गया। एक पण्डित तो घर में ही रहते थे। बाहर से भी मास्टर पढ़ाने आते। इस तरह सबका समय आनन्द से बीतने लगा।

एक बार जमनालालजी कहीं बाहर गये हुए थे। इसी बीच जोरावर-मलजी बीमार हो गये। उन्हें विषम ज्वर हो गया। बालारामजी चूड़ीवाले जमनालालजी के ममेरे भाई थे। सबसे बड़े और समझदार थे। उनकी सलाह से वैद्य का इलाज चला। इलाज में बड़ी सावधानी बरती गई, फिर भी जोरावरमलजी की तबीयत दिनो-दिन गिरती ही गई। हम सब लोग चिन्तित तो थे ही, लेकिन अब तो घबराहट हो गई। जमनालालजी को भी सारे समाचार दिये गए और जल्द आने को लिखा। वह आये, लेकिन तब-

तक तो तबीयत और भी ज्यादा बिगड़ चुकी थी। बचने की उम्मीद जाती रही। अन्त समय निकट आ गया। जमनालालजी जोरावरमलजी के पास बैठे हुए थे तब उन्होंने केशरबाई को दुःखभरी निगाह से देखा और बच्चों की तरफ से भी चिन्तित हैं, ऐसा उनके भावों से व्यक्त हुआ। जमनालालजी ने जोरावरमलजी से कहा कि तुम्हें हिम्मत रखनी चाहिए और केशर और बच्चों के बारे में विश्वास रक्खो। तुम्हारे और अपने बच्चों को मैं एक-सा रक्खूंगा।

जोरावरमलजी को विश्वास तो था ही, फिर भी जमनालालजी के इस तरह से कहने से उन्हें बहुत तसल्ली हुई दिखाई दी। मैंने केशरबाई को पास बुलाकर जोरावरमलजी के पांव का अगूठा धोकर चरणामृत पिलाया। जमनालालजी के बड़े भाई माधवजी—राधाकृष्ण के पिताजी—पांच वर्ष पहले ही २७ वर्ष की जवानी में इसी बीमारी से वर्धा में चल बसे थे। वह घाव अभी ताजा ही था कि जोरावरमलजी भी चले गये। केशरबाई मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। हम लोगों पर तो दुःख का पहाड़ ही टूट पड़ा। जमनालालजी को भी बहुत ही आघात पहुंचा। एक तरफ माता-पिता के दुःख का पूरा कारण था, दूसरी तरफ विधवा भाभी थीं। अब विधवा बहन का दुःख भी सामने आ गया। लेकिन किया भी तो क्या जा सकता था ? मेरे लिए तो यह एक-पर-एक चोट थी। मैं तो कुछ समझ ही न सकी और सुन्न-सी रह गई। कुछ ही दिन पहले हम सब लोग कितने आनन्द में रहते थे। एकदम ऐसा क्या हो गया कि जिससे सन्नाटा छा गया। सारा परिवार दुःख से विह्वल हो गया।

जमनालालजी ने अपने आश्वासन को निभाने का ध्यान जीवन के अन्ततक रखा। जमनालालजी अपने बच्चों से भी अधिक बहन के बच्चों का खयाल इसलिए भी रखते कि खुद के बच्चों की तो देखभाल नौकर-चाकर भी कर लेते थे। मुझसे तो जमनालालजी बार-बार कहते थे कि केशर दुःखी है, उसका और उसके बच्चों का अधिक खयाल अपनेको रखना चाहिए। मुझको इस बात का भी ध्यान बना रहता कि उन्होंने यह आश्वासन जोरावरमलजी को उनके अन्त समय में दिया था। केशरबाई को किसी तरह से बुरा न लगे, इसलिए मैं विशेष-तौर से पहनने-ओढ़ने, खान-पान और

रहन-सहन में सब तरह से सादगी रखती। सभी बच्चों के लिए एक-सी चीज़ आती और वे समान भाव से रहते। यदि कभी ऐसा मौका आ ही जाता तो मैं अपने बच्चों पर ही इसकी कसर निकालती, जिससे कि केशरबाई को किसी प्रकार की कमी महसूस न हो। मेरी मझली लड़की मदालसा को छोड़कर मेरे और बच्चों के मुकाबले में केशरबाई के बच्चे कमजोर थे और नर्मदा कुछ विशेष कमजोर थी। मां का स्वाभाविक रूप से कमजोर बच्चे पर अधिक लाड़-प्यार रहता है और उसके खाने-पीने का अधिक ध्यान और चिन्ता रखती है। इसी वजह से केशरबाई नर्मदा का विशेष खयाल रखतीं और वह अच्छा खावे-पीवेगी तो स्वस्थ होगी, यह सोचकर उसे दूध में मलाई या पौष्टिक खाना देने का उनका प्रयत्न रहता।

मेरे बच्चों को तो शुरू से ही छानकर दूध पीने की आदत होने की वजह से उन्हें न तो मलाई पसन्द आती और न उन्हें इस तरह की बात का कुछ खयाल आता, पर नौकरों को इसमें भेद-भाव लगता और वे चर्चा करते। जमनालालजी के लड़के तो बिना मलाई का दूध पियें और ये सब लोग मलाई खावें, यह खास करके कुछ पुराने नौकरों को पसन्द न आता और वे भी छिपाकर मेरे बच्चों को अच्छी चीज़ खिलाने की कोशिश करते। वे इस बात का भी विशेष ध्यान रखते कि मुझे भी इस बात का पता न लगने पावे। कुछ ऐसे भी नौकर थे, जो इस तरह की बातों को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कहते रहते। इसमें उनका कहीं संकुचित स्वभाव का दोष रहता तो कहीं आपस में एक-दूसरे को भिड़ाने या कटुता फैलाने की इच्छा छिपी रहती। शुरू में तो मेरे मन पर भी इस तरह की बातों का कोई असर न हुआ और मैं नौकर-चाकरों को धमका देती। जमनालालजी के सामने भी कोई शिकायत जाती तो वे केशरबाई के बच्चों का ही पक्ष लेते। लेकिन समय पाकर मेरे मन पर भी कुछ असर होने लगा और कभी-कभी ऐसा लगता कि जमनालालजी से लेकर सभी घर के लोग केशरबाई के ही बच्चों का पक्ष लेते हैं। इस तरह के भाव मेरे मन में जब आते तो मैं उनको हटाने का प्रयत्न करती। मेरे मन में यह डर भी बना रहता कि किसीको मालूम न हो कि इस तरह का भाव भी मेरे मन में आया है। इस वजह से मैं किसीसे कहूं भी क्या। मन में इससे एक संघर्ष शुरू हुआ और उससे मेरी ननद

के साथ मेरा जो स्वाभाविक प्रेम था, उसमें कुछ कमी आई। यह तो मैं भी समझती थी कि केशरबाई पर तो दुःख पड़ा है और मेरे तो सबकुछ है। इसलिए भी उनके या उनके बच्चों के लिए कुछ अधिक किया जाय तो वह सब प्रकार से उचित है। यह सम्भव है कि प्रारम्भ में ही यह सारी बात मुझे विश्वास में लेकर मेरे ऊपर छोड़ दी जाती तो मेरे मन पर किसी प्रकार की बुरी प्रतिक्रिया न होती। जमनालालजी का दिल निर्मल था और हेतु साफ। कई बार वे धर्म-संकट में पड़ जाते और दूसरी तरफ से भी गलती होती तो भी मुझको ही समझाते और उसका मुझपर असर भी होता। लेकिन उन्हें महीनों बाहर जाना पड़ता और धीरे-धीरे उनका बाहर रहना अधिकाधिक होने लगा। थोड़ा-बहुत घर में रहते भी तो अधिकतर समय दूसरे कामों में लगा रहता। घर के कामों के लिए या बच्चों से बात करने के लिए उन्हें फुरसत भी कम मिल पाती थी। कभी थोड़ा समय होता भी तो मुझे यह खयाल होता कि वे थके हैं, उनको घर की बातों में डालकर और कष्ट क्यों दिया जाय। इस प्रकार महीने-के-महीने और कभी-कभी तो साल-के-साल भी बिना इस तरह की बात किये गुजर जाते। यह भी एक विशेष कारण था, जिससे हम लोगों में गलतफहमी पैदा होती और हमारे प्रेम में विशेप अन्तर आता गया। मेरे स्वभाव में अपने-पराए का इतना खयाल नहीं था, फिर भी एक प्रकार की कंजूसी थी। मेरा दिल जमनालालजी की तरह उदार नहीं था और कभी उदारता दिल में आ जाती तो भी वह सदा-सर्वदा उनकी तरह टिकती नहीं थी। गुस्सा भी मुझमें विशेष था और सहन-शक्ति की भी कुछ कमी थी। मेरे स्वभाव में ये सहज दोष थे। और मेरी ननद की भी कुछ व्यक्तिगत कमजोरियां थीं। घर के अन्य लोगों ने और नौकर-चाकरों ने भी, खास करके जमनालालजी की अधिकतर लम्बी गैर-हाजिरी की वजह से, हमारी इन त्रुटियों से गलतफहमी को बढ़ाया और उससे अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न किया।

संस्कार तो हमको पूज्य बापू, विनोबा और जमनालालजी के मिले थे और वे सभी तरह से अच्छे थे, लेकिन स्वभाव के दोष भी उतने ही प्रबल थे। विचारों से बात समझ में आती थी, फिर भी वृत्तियों को उनके अनुकूल करना आसान न था। जब इन लोगों में से किसीका भी सतत सम्पर्क

लम्बे अर्से तक न रहता तो मेरी कमजोरियां मुझे आकर दवा लेतीं। इन्हीं सव कारणों से मेरे अहंकार को चोट लगी। मैं अपने-आपको पूरी तरह सम्भाल न सकी और मुझे भी यह भेद-भाव, कुछ अंश में ही सही, स्पर्श कर गया। फिर भी सबके लिए चीज़ एक-सी ही आती, परन्तु विचारों में जो एक प्रकार की निर्मलता थी, वह न रही। ऐसा विचार भी आता कि सबके लिए चीज़ एक-सी ही वनानी पड़ेगी तो सादी ही क्यों न वना ली जाय। यों तो घर का वातावरण ही ऐसा था कि गहना-गांठा पहनने का चाव किसी वच्चे को न था, पर मेरे मन में यह भी भाव आ जाता कि घर के वच्चों के लिए वनाये हुए गहने तो घर में रह जायंगे, लेकिन केशरवाई के वच्चों का वनाया हुआ वक्त पर घर में थोड़े काम आयगा।

यह वात सही है कि मेरी आदतें कुछ संकुचित थीं, लेकिन फिर भी मेरे मन में कभी यह विचार नहीं आया कि मेरे वच्चे और मैं तो जेवर पहनें और केशरवाई और उनके वच्चे न पहनें। मेरे मन में कुछ अपने-पराये का भाव पैदा हो जाने के वावजूद भी मैं उसे हमेशा वुरा समझती थी और वच्चों पर उसका असर न हो, इसका ध्यान रखती थी। वच्चों पर अच्छे-से-अच्छे संस्कार पड़ें, यह मेरी वरावर इच्छा थी। विचारों के अनुसार तो मुझे यही कवूल था और इसी तरह का मेरा प्रयत्न भी रहता, लेकिन स्वभाव की कमियों की वजह से जितना सुन्दर वातावरण वनाने की इच्छा रखती, वह न वन पाता। कई वार मैं ऐसा भी सोचती कि अपना मन वड़ा कर लूं और पहले की तरह ही भेदभाव न रखकर वरतूं, पर कोई ऐसी वात हो ही जाती, जिससे अपने विचारों के अनुसार चलने में अड़चन आ जाती।

केशरवाई को भी कोई खास लोभ न था और न वे मुझे दुखी वनाना चाहती थीं। नौकर-चाकरों की वजह से इस तरह का कुछ दूषित वातावरण वन गया तो वे जमनालालजी से कहतीं, "भाईजी, मुझे अलग रहने दीजिये। मैं अपना १०० रुपये महीने में खर्च चला लूंगी, पर मुझे नौकरों के झंझट से छुड़ाइये। भाभी को भी कष्ट रहता है, यह अच्छा नहीं।" पर जमनालालजी को वहन और उनके वच्चों के अलग रहने की कल्पना भी असह्य थी। उनका हमेशा यही प्रयत्न रहता कि हम दोनों ननद-भौजाई प्रेम से मिल-जुलकर रहें। वे यह भी नहीं चाहते थे कि मैं दुखी होऊं। सभी

अपनी-अपनी तरफ से दूसरों के सुख और भावनाओं का खयाल रखते, लेकिन फिर भी व्यवहार में कुछ ऐसी स्थिति पैदा हो गई थी, जिससे सभीको कुछ-न-कुछ असंतोष ही रहता। हमारी आपस की गलतफहमी सावरमती-आश्रम में अधिकतर लम्बे अर्से तक साथ रहने से बढ़ी और जब वर्धा आकर बजाजवाड़ी में रहने लगे तब वह और भी ज्यादा हो गई। बीस-पच्चीस साल तक हम लोग इकट्ठे रहे। अब बच्चे भी बड़े हो चुके थे। जमनालालजी का भी जेल अथवा अन्य कामों की वजह से घर में कम ही रहना होने लगा। यह भी एक बड़ा कारण था, जिससे हम लोगों की सहन-शक्ति कुछ कम हुई।

जमनालालजी का मन बड़ा था। वह हमेशा यह चाहते कि मेरे बच्चों से भी मेरी बहन के बच्चों का सभी अधिक खयाल रखें और एकरस होकर रहें। इसमें उनकी एक तरह से अति ही थी, इसीलिए इसका सारा बोझ उन्हींपर पड़ा। मेरी इच्छा यह रहती कि उनके कहने पर सबकुछ अर्पण कर दूं, लेकिन प्रारम्भ में पैदा हुई छोटी-छोटी बातें, स्वभाव-सी बन गईं और हम सबको उन्होंने विवश कर दिया।

मेरे ससुर कनीरामजी कहते, "केसर, तू जमन की बात मत सुन, दुःख पावेगी।" बात यह थी कि कुछ तो व्यवहार की दृष्टि से वे यह मानते थे कि केशरबाई अपने भाई पर भरोसा करने की जगह मुझपर भरोसा करके अपना बर्ताव करे तो उसके हित में होगा, क्योंकि घर के काम-काज में आखिर स्त्रियां ही जो कुछ करें वह होता है। दूसरी बात मेरे दिमाग में यह भी थी कि उन्होंने अपने भतीजे राधाकृष्ण को आश्रम में भर्ती करा रखा था। राधाकृष्ण कहता था कि मुझे विवाह नहीं करना है और उसके विवाह-सम्बन्ध की जमनालालजी कोशिश भी कैसे करते। इससे स्वाभाविक ही यह डर हो जाता कि कहीं जमनालालजी प्रह्लाद और कमल को भी कुंवारा ही न रख दें। प्रह्लाद बड़ा था। जब वह देस में गया तो वहांपर उसकी सगाई जमनालालजी से बिना पूछे ही कर दी। वह सगाई जमनालालजी ने छुड़वा दी। एक तो लड़की पढ़ी-लिखी न थी और वे लोग पुराने विचारों के थे; दूसरे, लड़की कुछ बड़ी थी और प्रह्लाद उस उमय बच्चा ही था। जब प्रह्लाद और कमल सगाई के लायक हुए तो जितनी भी सगाइयां आईं पहले प्रह्लाद

के लिए चर्चा की गई। उसका सम्बन्ध श्री सीतारामजी सेक्सरिया की लड़की पन्ना के साथ किया गया। फिर नर्मदा और मदालसा के सम्बन्ध की बात थी। मदालसा तो फक्कड़ थी और विवाह करेगी भी कि नहीं, इसका भरोसा तक न था; फिर भी जितने सम्बन्ध आये, जमनालालजी ने पहले नर्मदा को बताये। नर्मदा के लायक सम्बन्ध ठीक हो गया, उसके बाद ही मदालसा का सम्बन्ध निश्चित करने में सहूलियत हुई।

इस बीच बजाजवाड़ी में ही केशरबाई और उनके बच्चों के लिए एक मकान बनवा दिया, जिससे वे अपने शादी-शुदा बच्चों के साथ स्वतन्त्र-रूप से रह सकें और बजाजवाड़ी में ही होने की वजह से हम सबके नजदीक भी थे। कुछ वर्षों तक तो केशरबाई उसमें रहीं। बाद में बच्चों के काम की वजह से बम्बई और कलकत्ते रहना पड़ा। इसलिए केशरबाई ने मकान दे देने के लिए इच्छा बताई और वह मकान मेहमानों के लिए ले लिया गया।

जब मैं अपने पिछले जीवन की इन सारी बातों को मन में दुहराती हूं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे कितनी क्षुद्र बातें होती थीं, जिनकी बदौलत आपस में गलतफहमी पैदा होती थी और वे क्लेश का कारण बन जाती थीं। थोड़ी समझदारी और विवेक के साथ छोटी-मोटी बातों को दुर्लक्ष्य करके कुछ सहन कर लिया जाय तो आपस का प्रेम, सद्भाव और आदर उससे बढ़ता है और उसमें एक प्रकार का अपूर्व समाधान और सुख मिलता है।

: २२ :

साबरमती-आश्रम में

नागपुर के झण्डा-सत्याग्रह के बाद हम लोग साबरमती-आश्रम में रहने के लिये गए। जमनालालजी ने सोचा कि आश्रम में रहने से बालकों को विकास के लिए अच्छा शिक्षामय वातावरण मिलेगा, हाथ से काम करने का अभ्यास होगा और मैं भी कुछ घर-गृहस्थी के काम सीख सकूंगी।

पीहर में तो करती ही क्या, छोटी थी और वर्धा में सारे काम नौकर ही करते थे। इस तरह मेरे जीवन में व्यवस्था आना रह गया था। जमना-लालजी भी मेरी आदतों और कमजोरियों को जानते थे और इस कारण कुछ परेशान भी थे। मेरी ननद केशरबाई तो हमेशा ही विनोद में कहा करतीं—"राम मार्यो विधाता भूलगो तनै। मौट्यारा की जगां लुगाई वणा दी," (विधाता ही चूक गया, जिसने तुझे पुरुष की जगह स्त्री बना दिया)। इसीलिए जमनालालजी ने साबरमती जाने का विचार आने पर बापूजी से कह दिया था कि आश्रम के नियमों के अनुसार जानकीदेवी का निभाव कठिन होगा। यही कारण था कि सारी बातों का विचार करके बापू ने आश्रम की हद के बाहर, लाल बंगले के पास एक मकान दिया और कहा कि अलग मकान में रहने से जानकीदेवी सारे नियमों की पाबन्दी से बच सकेगी और निकट सम्पर्क के कारण वातावरण का लाभ मिलेगा और धीरे-धीरे नियमों के पालन की ओर बढ़ेगी।

हमने सुना था कि आश्रम में तो सांप-बिच्छू आदि किसी भी प्राणी को मारना मना है। वहां कुत्ते भी बहुत थे। हर क्षण कुत्तों से परेशानी रहती थी। मेरी परेशानी तो और भी अधिक थी। वर्धा में हम ऊपर बंगले में रहते थे, नीचे चौक में पहरा रहता था। दरवाजे आदि बन्द रखने की

भी हमारी आदत नहीं थी। आश्रम में हम कोठार से सामान लाते और इधर-उधर रख देते। कुत्ते आते और सामान ले जाते। इस तरह कुत्ते हिल गये। एक दिन हमारा एकादशी का व्रत था। शहर आश्रम से चार मील दूर था। नौकर फल वगैरा लेने शहर गया। शाम हो रही थी। मैंने और गुलाबबाई ने सोचा कि कुएं से पानी ले आवें। अंधेरा होने जा रहा था। आश्रम की दौड़धूप में भूख जोर से लगती थी। बरामदे में सब तैयारी करके रखी कि नौकर फल लेकर आये तो फलाहार करें। इतने में रामकृष्ण ने पानी में चप्पल डाल दी। वह उस समय तीन-चार वर्ष का था। अब अन्धेरे में पानी लेने कौन जाय? सिर पर हाथ धरकर पानी की चिन्ता करने लगे। इतने में कुत्ता आया और सामने रखा दूध लप-लप करके पीने लगा। अब दूध कहां मिलेगा, यह चिन्ता कर ही रहे थे कि दूसरा कुत्ता सूखे अंजीर की माला लेकर भाग गया और तीसरा कुत्ता आया और पपीता ले भागा। एक तो एकादशी के फलाहार की गड़बड़ी, दूसरे संन्ध्या की प्रार्थना का समय हो रहा था। अजीब परेशानी हो गई!

इसी तरह रात को बरामदे में हम सब और पांचों बच्चे जमीन पर ही सोते थे। सबके लिए खटिया का मिलना कठिन था। सांप-बिच्छू का डर तो बना ही रहता था। सुबह की प्रार्थना में जाते समय हम बच्चों को कपड़े ओढ़ाकर जाते। जब प्रार्थना से लौटकर आते तो उनके पास रोगी खुजली वाले कुत्ते सोये हुए नज़र आते देखकर बड़ी सूग चढ़ती।

रसोईघर को बन्द करके रखने की भी हमारी आदत नहीं थी। मक्खन निकालकर तपेली में रखकर कोठार में दूसरा सामान लेने जाती कि कुत्ते आकर मक्खन ले जाते। मक्खन की तपेली देखने जाती कि गुड़ का डला दूसरा कुत्ता ले भागता। गुलाबबाई थीं तो बड़ी होशियार पर आश्रम के नवीन जीवन में उनकी अक्ल और शरीर स्थूल होने से घबरा-सी जातीं। एक दिन आश्रम की बेलाबहन दोपहर का खाना-पीना निपटने पर हमारे यहां आईं। आते ही उन्होंने कहा, "अबतक तुम लोगों का खाना ही बाकी है। चलो, मैं रोटी बना देती हूं।" इसपर मैं राजी हो गई। मैं बेसन पीस-कर लाई, तब जाकर कढ़ी बनी। बेलाबहन रोटी बनाकर जाने लगीं कि इतने में एक कुत्ता लपककर, जितनी उसके मुंह में आईं उतनी रोटियां खींच-

कर भाग गया। हम सब पहले दिन के भूखे थे, बची रोटियां खाकर भूख बुझाई। वेलाबहन ने ये सारी बातें किशोरलालभाई से कहीं। उन्होंने अपने गुरु नाथजी (केदारनाथजी) से कहा कि आप जाकर देखिये। जमनालालजी स्वयं तो नौकर को लेकर घूम रहे हैं और स्त्री-बच्चों को बिना रसोइया और नौकर के छोड़ गये हैं। मैं समझती हूं कि जमनालालजी जान-बूझकर ऐसा करते थे, क्योंकि वह कहा करते थे कि स्त्रियों को अपने घर की रसोई बनानी तो आनी ही चाहिए। मुझे रसोई बनानी आ जाय, इसी दृष्टि से वह रसोइये को अपने साथ ले जाते थे।

नाथजी ने आकर देखा कि दो कुत्ते एक कमरे में और दो दूसरे में और बाकी बरामदे में हाजिर हैं। उन्होंने छोटे-छोटे पत्थरों का ढेर इकट्ठा किया और कुत्तों पर फेंकना शुरू किया। वे पत्थर इस प्रकार फेंकते थे कि कुत्तों को तो चोट न आती, पर वे डर जाते। कुत्ते सचमुच इतने डर गये कि फिर आना ही भूल गये और हम भी यह सबक सीख गये। बच्चों को भी यह नया शस्त्र हाथ लग गया। बाहर से कठोरता और भीतर से नम्रता का यह गुण हमने प्रत्यक्ष देखा।

आश्रम में समय के अनुसार बार-बार घंटियां होती थीं, लेकिन हमें समय का कोई भान न रहता था, इसलिए घंटी बजते ही दौड़धूप मच जाती और हम बिखरे बालों, अव्यवस्थित कपड़ों में ही जैसे-तैसे पहुंच जाते। हमारी यह दशा देखकर सब लोगों को दया भी आती और हँसी भी। नदी पर स्नान के लिए जाते तो बच्चों को पहले भेज देते। कमला रोती-रोती कपड़े गिराती जाती। दूसरे लोग कपड़े उठाते जाते। नदी पर हम कपड़े धोते रहते और उधर घंटी बज जाती।

एक रोज कमलनयन काका कालेलकरजी के वर्ग में जा रहा था कि रास्ते में से ही लौट आया। बोला कि रास्ते में सांप है। मैंने कहा कि सांप तो चला गया होगा। यह सुनकर कमलनयन तो वर्ग में गया; लेकिन उस रास्ते से जाने की मेरी हिम्मत न हुई। दूसरे रास्ते से ही मैं वर्ग में गई। मैं तो डरती थी, फिर भी चाहती थी कि बच्चे निर्भय बनें!

कुछ दिनों बाद आश्रम में अलग-अलग रसोड़ों को बंद करके एक सार्वजनिक रसोड़ा शुरू किया गया। उसमें गाय के ही घी-दूध के उपयोग का

नियम था। सबकी राय से यह नियम बना था। जमनालालजी ने मुझसे कहा कि तुम वर्धा चली जाओ, क्योंकि एक तो रसोड़ा एक हो गया, दूसरे संपत्तिवाले के संग में रहने में अड़चन है। तब मैंने कहा कि संपत्ति की बात तो आप जानें, मुझे तो रसोड़े में बना-बनाया खाना मिलेगा। मेरी तो खाना बनाने की आफत ही मिटी। जब हम लोग रसोड़े में खाने के लिए जाने लगते, तब पहली घंटी पर न पहुंचने से दूसरी घंटी तक बाहर खड़े रहना पड़ता था।

मैं भोजन बहुत धीरे-धीरे किया करती हूं। दूसरी बहनें तो भोजन करके अनाज आदि साफ करने बैठ जातीं और फिर अपने-अपने यहां बाल-बच्चों के लिए दूध का समय होने पर दूध के लिए भी आ जातीं। पर मैं तो भोजन ही करती रहती। इससे मेरा अनाज आदि साफ करने का समय भी भोजन में ही चला जाता।

एक दिन मैं भोजन के बाद दूध के लिए रसोड़े में खड़ी थी। दूसरी बहनों ने कहा कि आगे होकर ले लो। ऐसे खड़े रहने से तुमको कौन दूध देगा ? धान-सफाई का समय चला गया, पर वर्ग में तो जाना ही चाहिए, इसलिए दूध लेकर जल्दी निकलना आवश्यक था। दूध की तपेली को थाली में रखकर चल रही थी, जिससे तपेली डगमग हिल रही थी। दूध के लिए मुझे लोटा लाना चाहिए था। मैं थाली को दोनों हाथों से पकड़कर चल रही थी कि सामने से गोशाला की गायों का झुंड आ गया। मैं डर गई और खेत के कांटों की बाढ़ के पास जाकर खड़ी हो गई। पीछे से एक गाय आई और उसने मेरे दोनों पैरों के बीच सींग डाल दिया। थाली को पकड़े मैं कांप रही थी और दूध गिर न जाय, इसकी चिन्ता भी थी। मैं तो अब गिरी, अब गिरी हो रही थी। मुझे इतनी भी सुध नहीं रही कि कम-से-कम थाली नीचे पटककर एक हाथ तो खुला कर लूं। इतने में उधर से ग्वाला आ गया और उसको देखकर गाय ने आहिस्ते से सींग निकाल लिये। तब कहीं जान-में-जान आई।

उस साल खूब वर्षा हुई थी। साबरमती नदी में बाढ़ आने की सम्भावना थी। सरदार पटेल बाढ़ के समाचार लेकर आश्रम में आये और बोले कि साबरमती-आश्रम खाली करने की सूचना मिली है। बापू ने प्रार्थना में

सबसे यह कह दिया, "कोईने जरा पण भय लगातो होय तो ते अमदाबाद शहेर मां के बीजे गमे त्यां जई शके छे, शरमाववानी जरूर नथी। अने जेने अहिआं रेहवूं होय ते अहिआं रहे। हूं तो अहिआज रहेवानो छूं। ने ज्यारे पूर आवशे त्यारे छात्रालयनी छत पर वेसी रघुपति राघव राजा रामनी धुन लगावशुं।" (किसीको भी डर लगता हो तो वह अहमदावाद शहर में या दूसरी किसी जगह जा सकता है। इसमें शरमाने की ज़रूरत नहीं। जिसे यहां रहना हो वह यहां रह सकता है। मैं तो यहीं रहूंगा। और जब बाढ़ आयगी तब छात्रालय की छतपर बैठकर 'रघुपति राघव राजाराम' की धुन गाता रहूंगा।) घबराहट तो सबको थी ही, परन्तु बापूजी को छोड़कर जाने को कौन तैयार होता ! मुझसे भी बापूजी ने कहा कि तुम वर्धा जा सकती हो। लेकिन मैं वहीं रही।

नदी में तो बाढ़ मामूली ही थी, पर पानी कई रोज तक बरसता रहा। सारे आंगन में पानी-ही-पानी हो गया। ऊपर से भी पानी चूता था। बाहर निकलना भी मुश्किल था। सारे कपड़े भीग गए, चीज़ें भीग गईं। लक्ष्मण रसोइया रसोई बनाता था। वर्षा के पानी से ही रसोई बनाई जाती और वही पी लिया जाता। बापूजी ने कहला भेजा कि हम लोग आश्रम में ही सोवें, पर मेरी तो हिम्मत ही न हुई। आश्रम में तो सब चार बजे तड़के उठनेवाले थे, नियम से रहते थे। मैं ऐसा कहां कर सकती थी ! किशोर-लालभाई ने किसीको हमारे मकान के पास सुलाने को कहा, ताकि हम वर्षा, बिजली, आंधी में डरें नहीं और चोरी का भी डर न रहे। पर मैंने कह दिया कि चौक में मैं सफेद चादर ओढ़कर सो जाती हूं, सो देखनेवाला यही समझेगा कि कोई आदमी सोया है। इतने पर भी कोई कुछ ले जायगा तो बरतन-कपड़े ही तो हैं।

: २३ :

आश्रम के कुछ और अनुभव

जब मैं साबरमती रहने गई, तब वहां दूसरों को पढ़ते और आश्रम का वातावरण देखकर पढ़ने का मन होने लगा। जहां गीता का वर्ग चलता वहां गीता ले जाती। सितार के वर्ग में सितार ले जाती। बापूजी जब बहनों का वर्ग लेते तब वहां जाती। बापूजी रामायण आदि धर्म-पुस्तकों में से शुद्ध लिखकर लाने के लिए कहते। मैं बड़े चाव से शुद्ध और सुन्दर लिखकर बताने का प्रयत्न करती। कापियां देखकर बापूजी नम्बर देते थे। वे कापियां अब भी मेरे पास हैं। लड़कियों के साथ साबरमती नदी में तैरना सीखने की भी कोशिश करती। मैं सीखने के हर स्थान पर पहुंचती। आश्रम की बहनें मुझपर सदा हँसती रहतीं और कहती रहतीं कि जिस वर्ग में देखो जानकीबहन हाजिर रहती हैं। पर उन बहनों को क्या पता कि मैं जहां-की-तहां ही हूं। कृष्णदासभाई गांधी ने सितार की गतें सिखाईं, हारमोनियम सिखाने का भी प्रयत्न किया, संगीत सीखने की भी कोशिश की, लेकिन मेरा हाल तो यह था कि 'आगे पाठ और पीछे सपाट।' नया पाठ लेती रहती और पिछला साफ़। गीता की पढ़ाई का भी यही हाल हुआ। बहुत बरसों के बाद जब विनोबाजी की गीताई मिली तब गीता का कुछ-कुछ अर्थ मेरी समझ में आने लगा।

बड़ाई के लिए या उत्साह में मैं बापूजी से कहती कि मुझे भी कुछ काम दो। बापूजी ने कहा कि यहां काम तो बहुत है। जाओ, गोशाला में सफाई करो। मैंने दूसरे रोज से झाड़ू देनी शुरू की, पर इसके पहले मैंने झाड़ू छुई कब थी ! इसलिए मुझे देखकर लड़कियां हँसतीं और कहतीं, "जाओ, जानकीब्हेन, तमे तो काम वधारो छो।" (जानकीबेन तुम तो काम बढ़ाती हो) इसी प्रकार रसोईघर में भी लड़कियां हँसती थीं; कहतीं,

"रेवा दो, तमे रोटली वाली नाखो छो। अमे करी लेसूं।" (रहने दो तुम तो रोटी जला डालती हो। हम कर लेंगीं।)

आश्रम में पाखानां-सफाई का काम आश्रमवासी ही करते थे। बापू ने जीवन की साधना की शुरुआत भंगी के काम से ही मानी है। जिसको इस काम से ग्लानि हो, भय हो, उसका आश्रम में रहना असम्भव था। सिर्फ मेहमानों को छूट थी।

हम लोग भी पाखाने में ही शौच जाते थे। मैंने देखा कि वहां तो ब्राह्मण-पण्डित सब बिना हिचक के पाखाने की सफाई करते हैं। मैं भी एक दिन हिम्मत करके गई। मन में उत्साह जो था! नाक पर साड़ी लपेट ली और चली गई। मैले की बालटियां बांस में डालकर दोनों ओर से दो आदमी पकड़कर खाद के गढ़े तक ले जा रहे थे। मैंने भी बांस का एक छोर पकड़ा और डरते-डरते मुंह फेरकर उसे गढ़े तक पहुंचा दिया। मैंने मैला उठाने और पाखाना साफ करने का काम कर तो दिया, पर बालटी पहुंचाने के बाद लौटकर सिर से पैर तक रगड़-रगड़कर स्नान किया और गोबर लगाकर हाथ-पैरों की शुद्धि की। पाखाना-सफाई का यह मेरा पहला ही मौका था।

मारवाड़ी समाज में सुहागिनें लाख की चूड़ियां पहनती हैं। पर जब मैंने जेवर का त्याग कर दिया तब लाख की चूड़ियां भी छोड़ दीं, क्योंकि उनपर सोने की पतरी होती थी और लाख में हिंसा होती है। कांच की चूड़ियां पहनने लगी। पर कांच की चूड़ियां देशी होने से बार-बार बढ़ (चटख) जाती थीं और अहमदाबाद वहां से चार मील की दूरी पर था। जहां चूड़ियां मिलतीं, वहां जाने की परेशानी से बचने के लिए मैं चूड़ियों की भी परवा कम करती थी। आ जातीं तो पहन लेती, वरना योंही चलता रहता। एक दिन मैं बिना चूड़ियों के, बिना बिंदी के, सफेद साड़ी पहने दरवाजे पर बैठी थी। मुझे इस प्रकार बैठी देखकर अनुसूया साराभाई ने डरते-डरते मुझसे पूछा—"जमनालालजी कहां हैं?"

मैंने कहा—"वर्धा गये हैं।"

वह बोलीं—"जानकीबहन, मैं तो घबरा गई थी तुम्हारे इस वेश को देखकर।"

"कोई चूड़ियों में सुहाग थोड़े रहता है !" मैंने कहा।

बापूजी की बातों और प्रभाव से गहनों का असर कम तो हो ही चला था, पर बिंदी और चूड़ियों के प्रति आग्रह तो पूज्य बा का भी था। और कोई गहना चाहे न हो, पर बिंदी और चूड़ियां तो सुहाग के चिह्न माने जाते हैं। मेरे बरताव को देखकर बा यह कहा करतीं—"जानकीबहन तो बापू को और भी बढ़ावा देती हैं। वह एक दिन शायद यह कह बैठेंगे—'देखो जानकीबहन को, चूड़ियां भी छोड़ दीं।'"

एक बार एक हरिजन ने बापू से पूछा कि क्या मेरी लड़की आश्रम में रख लेंगे और उसका पालन-पोषण करेंगे ? बापू कैसे इन्कार कर सकते थे। उन्होंने "हां" कहा और लड़की आश्रम में आ गई। अब बापू ने बा से कहा—"हरिलाल की लड़की मनु की तरह ही इसे सम्हालो।" बापू के सामने तो वह क्या कहतीं, पर एकदम सहम गईं। बा ने हम बहनों के बीच भोलेपन से कहा—"बापूजी कहते हैं कि लक्ष्मी को मनु की तरह रखो। उसको नहलायंगे, पिलायंगे, जूंए निकालेंगे पर रोटली रसोड़ा में कैसे होगा ?" लेकिन आगे चलकर तो बा के लिए भी बापू की सब आज्ञाएं सहज होती गईं।

पहले-पहल मुझे शायद अहमदाबाद कांग्रेस में बा के दर्शन हुए। फिर जब हम लोग साबरमती-आश्रम में रहने गये तब बा के सहवास में रहने का खूब मौका मिला।

बा सरलता, व्यवस्था, सफाई और प्रेम की तो मूर्ति ही थीं। वे बोलती कम थीं और जब बोलतीं तब नपी-तुली और काम की ही बात बोलतीं। कभी भाषण का भी काम पड़ा तो दो शब्दों में प्रेम-भरे और हृदयस्पर्शी शब्द बोल देतीं। जब-जब मुझे 'बा' का स्मरण आता है, तब-तब अनेकों छोटी-बड़ी घटनाएं आंखों के सामने नाचने लगती हैं।

साबरमती-आश्रम की बात है। बापूजी आश्रमवासियों को हर रोज कुछ-न-कुछ सुनाया करते थे। एक दिन उन्होंने कहा—"मनुष्य को अपरिग्रह रखना जरूरी है। जितना सामान आवश्यक हो उतना ही रखना चाहिए। ज्यादा रखने से सम्भालने की जबाबदारी बढ़ती है। उदाहरण के लिए मैं मर जाऊं, और यह मेरा ऐनक है, तो 'बा' को चाहिए कि दफ्तर

में जमा करा दे, जिसके उपयोग का होगा उसके उपयोग में आ सकता है।" प्रार्थना के बाद आश्रम की कुछ बहनें जब बा के पास बैठीं, तब बा ने कहा—"आज बापूजी क्या बोले, मेरी समझ में नहीं आया कि धणी (पति) की वस्तु की धणियाणी (पत्नी) मालकिन नहीं हो सकती।" उनकी इस सरलता पर बहनों को हँसी आई, मैं भी उस समय वहां मौजूद थी। बाद में उन्हें बतलाया गया कि बापूजी ने यह कहा था कि अपनी जरूरत की चीज़ ही अपने पास रखनी चाहिए। ज्यादा रखने से जबाबदारी बढ़ती है। और उन्होंने अपने चश्मे का उदाहरण दिया था।

जब बापू आगाखान महल में कैद थे तब उनके उपवास के समय हम लोग मिलने जाते थे। तो एक रोज बा बोलीं कि देखो बापूजी रोज उपवास करके बैठ जाते हैं, अब क्या होगा, सबको चिंता है ! और बापूजी के पास हम सबको दर्शन कराने ले गईं तथा बापूजी से बोलीं "तमें तो जनम-भर जेल मां रहशो अने उपवास पण करशो पण लोकों ने जेल में घाल्या, एनूं शूं थशे ? तमारो स्वराज तो कौण जाण क्यारे मलशे। हजारों लोको तमारे माटे जेल मां गया, एनी बैरि अने बच्चाओ नो शूं थशे ?" यह कितना बड़ा उद्‌गार है बा के हृदय का कि बापू जनम-भर जेल में रह सकते हैं, पर जो हजारों लोग जेल में जाते हैं, उनके स्त्री-बच्चों, परिवार के लोगों का क्या हाल होता होगा !

रसोई बनाने में वे बहुत ही कुशल थीं। उनके हाथ की बनी खिचड़ी और कढ़ी बहुत ही स्वादिष्ट होती थीं। जब कोई बा से मिलता तो बा उसे कुछ-न-कुछ खाने को जरूर देतीं। और लेनेवालों को ऐसा लगता कि मेरी मां मुझे प्रसाद दे रही है। पर जेल में बा लाचार थीं। उन्हें इस बात के लिए भी बड़ा भारी संयम करना पड़ता था। वैसे तो आश्रम-जीवन संयम का ही दूसरा नाम था।

एक दिन सेवाग्राम में बापू की खड़ाऊं गुम हो गई तो बा एकदम घबरा गईं कि कैसे यह भूल हो गई। बापूजी का समय हो गया है, अब क्या कहेंगे, खड़ाऊं कहां गईं ! किसीने कहा—"बा, मैं अभी दौड़कर बाज़ार से ले आऊं।" पर बा तो जानती थीं कि लानेवाले तो बहुत हैं, पर पहननेवाला तो वही खड़ाऊं मांगेगा। उनसे नई लाने के लिए कैसे पूछा जाय ? बा

गम्भीर हो गईं। ऐसी छोटी-छोटी बातें बा भीतर-ही-भीतर खूब सहन करतीं। उन्होंने अपना जीवन ही ऐसा बना लिया था कि सब चीज़ नपी-तुली, व्यवस्थित, सधी हुई और समय पर। एक रोज बा ने कहा कि मुझे एक साड़ी की जरूरत है, तो बापूजी ने कहा कि "मेरा सूत कता हुआ पड़ा है, उसकी बनवा लो।" मदालसा ने कहा कि बापूजी सेवाग्राम से वर्धा जाते हैं तो भंडार से ले आयंगे। तो बापूजी ने कहा कि "अपन तो दरिद्रनारायण हैं। जनता के पैसे का ऐसे थोड़े ही उपयोग कर सकते हैं।" फिर बा तो चुप ही रह गईं और धीरे-से बोलीं, "सूत तो मेरे पास भी अपने हाथ का कता पड़ा है।" और वह साड़ी की बात वहां-की-वहां रह गई। एक बार मदालसा ने खादी-भंडार जाकर बा के लिए एक बिस्तरबंद जबरदस्ती सिलवा दिया। वह सिलकर आया और बा ने बापूजी को दिखाया, तो बापूजी बोले, "तुम्हें जरूरत है क्या ? तेरे पास बिस्तरबंद नहीं है ?" बा बोलीं, "जरूरत तो खास नहीं थी, मदालसा ने सिला दिया, मैंने तो ना कहा था।" फिर मदालसा ने बहुत कोशिश की, लेकिन बा ने वह नहीं लिया। बरसों तक वह पड़ा रहा। आखिर, मैं वह काम में ला रही हूं।

ये बातें देखने में छोटी-छोटी लगती हैं, लेकिन महान् पुरुष के पद-चिह्नों पर चलनेवाली बा के लिए ये बहुत बड़ी थीं। उन्होंने इन सबमें अपना पुट मिलाकर छोटी घटनाओं को भी महत्व का बना दिया था।

बापू के क्रांतिकारी और बा के परम्परागत विचारों की तुलना करें तो बा की एक विशेषता हमारे ध्यान में आती है। बा ने अपने जीवन को, विचारों को, संस्कारों को बापू के जीवन तथा विचारों में समर्पित कर दिया था। वे बापू के साथ एकरस हो गई थीं। बापू की जीवन-साधना तथा तपस्या में राष्ट्रमाता कस्तूरबा का बहुत बड़ा स्थान रहा है।

बापू का यह तरीका था कि जिसके घर ठहरें उसके घर की बहनें चाहें तो बापू के लिए खाना ले जाकर दे सकती थीं। तैयार तो कस्तूरबा तथा आश्रम की बहनें ही करती थीं। खाने में बकरी का दूध, फल और खाखरे रहते थे। बापू नपा-तुला खाना खाते थे। संतरों पर अक्सर झगड़ा होता था। बापू कहते थे—तीन संतरे छीलना। पर भोजन तैयार करने की बारी जिसकी होती वे प्रायः तीन बड़े-से-बड़े संतरे और कभी-कभी चौथे

की भी कुछ फांकें ले लेते और छील देते। पर बापू तो सब ताड़ लेते थे।

एक दिन तैयार की हुई थाली बापू तक पहुंचाने के लिए मैंने बा से कहा कि मैं दे आऊं। बा ने मुझे दे दी। छोटी कांसी की थाली उसमें बकरी के दूध का कांसी का गिलास, छीले हुए संतरों का कटोरा और एक चम्मच था। ऊपर लकड़ी की पतली-सी थाली ढंकने के लिए थी। बा ने तो मेरे आग्रह पर दे दी, पर बापू तक पहुंचाने के लिए भी तो सलीका चाहिए। बापू ऊपर विनोबा के कमरे में रहते थे। कमरे तक पहुंची ही थी कि हाथ से ऊपर की ढकी हुई लकड़ी की थाली गिर गई और दो टुकड़े हो गये। मूर्खता से किये हुए नुकसान का बापू पर क्या असर होगा, यह तो सभी जानते थे, पर बा का भय मन में अधिक था। डरते-डरते बापू के पास गई और दोनों टुकड़े दिखाकर बोली, "बापू, यह तो मुझसे टूट गई।" बापू हँसे तो सही पर बोले, "तुमसे तो उम्मीद यही थी। पर बा से क्या कहोगी ?' बापू के खा चुकने के बाद मैं डरते-डरते बर्तन लेकर बा के पास गई और टुकड़े सामने रख दिये। बा देखते ही हक्की-बक्की रह गईं। जिस बात का डर था, वही हुआ। बापू का व्यवस्थित और नियमित जीवन, उनका पुरानी चीज़ों से प्रेम, फिर ग्रामोद्योग की बनी दुर्लभ वस्तु—सबका जैसे एक चित्र बा की आंखों में समा गया। नई लानी हो तो बापू की इजाजत लेना जरूरी। फिर अपने लिए बाज़ार से मोल मंगाना भी उन्हें असह्य था। क्षण-भर में मेरा अभिमान चूर हो गया। मैं बापू की सेवा के लायक साबित नहीं हुई।

श्रीमती सरलादेवी चौधरानी बीमार थीं। उन्हें टायफाइड था। उनकी सेवा के लिए भाई जमनादास गांधी नियुक्त थे। सरलादेवी ने बापू से शिकायत की कि जमनादासभाई से उनकी सेवा होना मुश्किल है। बापू ने अपने छोटे पुत्र देवदास से कहा—"काल थी देवा तू जशे।" देवदासभाई ने कहा—"बापूजी बीजे दिवसे मारीपण शिकायत थशे त्यारे न जवुंज सारूं।" बापूजी हँस पड़े। दोपहर को श्रीमती सन्तानम् की ड्यूटी थी। उनकी भी शिकायत हुई। यह सब देखकर सेवा करने का उत्साह मुझमें जागा। मैंने बापूजी से कहा कि मैं इनकी सेवा में जा सकती हूं क्या ? बापू ने दूसरे दिन से जाने को कहा। इससे मुझे बहुत खुशी हुई। मेरे मन में, सेवा कैसे की

जाती है, यह सीखने की इच्छा थी।

दूसरे दिन से मैं उनकी सेवा में हाजिर हो गई। धूप और अगरवत्ती लेकर धुपाड़े में आग रखकर मैंने उनके कमरे में सुगन्ध कर दी। मैं डर रही थी कि कहीं मुझे भी सेवा से हटा न दिया जाय! झाड़ू भी धीरे-धीरे दी। उन्होंने पेशाव का डव्वा वाहर रखने को कहा। मैंने उठाकर वाहर रख दिया। फिर चोटी बनाने को कहा। मैंने चोटी वनाना शुरू किया। उनके वाल वड़े लम्वे थे। चोटी धीरे-धीरे की कि कहीं कोई वाल खिंच न जाय। उनको अच्छा लगा। चोटी वनाते समय रोग के जन्तु मेरे शरीर में न चले जायं, इसलिए साड़ी का पल्ला नाक पर रखना चाहती थी, लेकिन डर लग रहा था।

टट्टी-पेशाव का कमोड तो मैं वाहर रख देती, पर भंगी के हाथ का धोया गीला कमोड भीतर कैसे रखूं? इस दुविधा को मैंने गोमतीवहन के सामने रखा। गोमतीवहन ने कहा कि जव आप उस काम के लिए गई हैं तव वहां के कपड़े अलग रखो और घर के कपड़े अलग। "कपड़े वदलना तो ठीक पर सिर रोज-रोज कैसे धोऊंगी?" मैंने गोमतीवहन से पूछा।

उन्होंने जवाव दिया—"सिर की बात छोड़ दो।" इस तरह मैं प्रति-दिन जाने लगी।

जव सरलादेवी को मालूम हुआ कि मैं जमनालालजी की पत्नी हूं तो उन्होंने कहा कि पेशाव के वरतन को वार-वार मत निकाला करो। जव टट्टी हो तो एक वार ही निकाल दिया करो। इससे मुझे खुशी हुई, क्योंकि यह काम स्नान के पहले भी हो सकता था।

ठीक होने के वाद जव सवसे विदा लेकर कलकत्ते जाने लगीं तव वड़े ही प्रेम के साथ उन्होंने मुझे एक सर्टिफिकेट दिया। संस्था की वजह से और तो देती हीं क्या। अंगरेजी में लिखे सर्टिफिकेट की मेरे लिए क्या कीमत! जैसा दिया, वैसा रख दिया और कुछ दिन के वाद उसे फाड़-फूड़ दिया। आज उसकी याद-भर है।

एक वार सावरमती में किसी निमित्त गीता के १८ आध्यायों का पारायण हुआ। पारायण के शुरू होते ही वापू ने जो आंखें मूंदी तो आखिर तक मूंदे ही रहे, वुद्ध भगवान की तरह, न हिले न डुले। मेरी आंख बीच-बीच में खुल

जाती थीं—मैं बापू की तरफ देखती कि उनकी आंखें भी खुली होंगी। लेकिन हर बार उन्हें बंद ही पाया। ऐसी एकाग्रचित्तता थी बापू में।

इसी तरह एक दिन सुबह की प्रार्थना में भी १८ अध्याय का पाठ हुआ। समय की खेंच तो रहती ही थी—पूरा पाठ एक घंटे में खत्म करना था—सो एक लय से काफ़ी तेज़ गति से पाठ हो रहा था। मैं भी साथ चलने के जोश में थी। प्रार्थना के बाद बापू बोले—"तमारो उच्चारण बराबर नथी।" उस एकाग्रचित्तता में भी शुद्ध उच्चारण का ख्याल रहता था उन्हें। यह देखकर मैं चकित रह गई।

: २४ :

पहली सन्तान

वच्छराजजी के परिवार में सन्तान की ओछत थी। कई पीढ़ियों के बाद हमारी पहली सन्तान कमला पैदा हुई थी। लोगों ने कहा कि इनके यहां तो लड़की भी होना वड़ी वात है, पर हमारा इनाम तो गया। यह बात जमनालालजी को खटकी। वह तो लड़की की इज्ज़त ज्यादा करते थे। उन्होंने कमला के जन्म पर खूब चांदी, सोना, जेवर आदि नौकर-चाकरों को इनाम में वांटे। उनकी खुशी का पार न था। कमला का लालन-पालन भी बड़े लाड़-प्यार से हुआ। मेरी पहली जचकी थी। इस कारण भी इनको यह खयाल था कि प्रसूती में कोई खराबी न हो। दादाभाई नौरोजी की लड़की वम्बई में डाक्टर थी। जमनालालजी दादाभाई नौरोजी से मिले और डॉ० माणकबाई का जिक्र आया तो इन्होंने मेरी जचकी के लिए भी खाना व ८०० रुपये महीने पर उसको तय कर लिया और वर्धा ले आये। उसके साथ उसके दो लड़के भी आये। मुझे याद है कि उसको सीधे में रोज एक सेर घी, आटा, दाल, चावल, चीनी वगैरा दिया जाता था। कमला के होने पर जमनालालजी ने डाक्टर माणकबाई को बहुत-सा इनाम वगैरा दिया और खुश करके विदा किया।

उस समय की एक बात की जब याद आती है तो बड़ी हँसी आती है। कमला को दो वर्ष की होने तक पानी पिलाने में डरते थे। जब कभी वह कुछ पीने को मांगती तो दूध या फलों का रस ही दिया जाता। सब उसे गोदी में उठाकर लिये रहते थे। परिवार में बरसों में एक ही बालक हुआ था और पैसे से भरापूरा घर था। नौकर-चाकर और रिश्तेदार सब यही सोचते थे कि ऐसे लाड़ले बालक को क्या पानी पिलाना चाहिए ? वह तो दूध या फलों का रस ही पी सकती है। इसी तरह पैदल चलने के बारे में रहा। इस

कारण कमला पैदल भी बहुत देर बाद चलने लगी।

जब कमला चार वर्ष की हुई तो उसकी सगाई फतेहपुर के नेवटिया परिवार में रामेश्वरप्रसाद से कर दी गई। नेवटिया-खानदान समाज में प्रतिष्ठित, संस्कारी तथा सुधारक विचार का था।

बीमारी से मुझे हमेशा बहुत डर लगता है। रोगी के पास जाने की हिम्मत नहीं होती। एक बार गंगाविशनजी और जमनालालजी बाहर गांव गये हुए थे। उनके पीछे गंगाविशनजी की बहू को हैजा हो गया। मुझे पता चला तो डरती भागी। मंदिर में जाकर भगवान की मूर्ति के पास खड़ी हो गई। प्रार्थना करने लगी कि हे भगवान्, वह अच्छी हो जाय तो पांच रुपये का प्रसाद बांटूं। लेकिन वहां जाने की हिम्मत नहीं होती थी। जी अलग घबरा रहा था। साथ ही यह भी खयाल आता था कि अगर जमनालालजी होते तो जाये बिना थोड़े ही रहते। सेवा करने की हिम्मत नहीं— और दूर रहने से संकोच था।

लेकिन जमनालालजी का बिलकुल ही उलटा हाल था। रोगी की इस प्रेम से सेवा करते कि बस मैं उनसे कहती थी कि रोगी को अच्छा करना है तो डाक्टर की दवा कराओ, लेकिन रोगी के पलंग पर बैठना, उसे हाथ लगाना, इस सबकी क्या ज़रूरत है। उनका यही हमेशा उत्तर रहता कि रोगी को सब तरह से तसल्ली देनी चाहिए। तुम आदमी का मन नहीं जानतीं। अगर तुम बीमार हो जाओ और तुम्हारे पास कोई नहीं आये तो तुम्हें कैसा लगेगा?

कमला ८-९ वर्ष की होगी। उसे बुखार चढ़ा। मैंने पूछा तेरी जांघ में दुःखता है? उसने कहा—हां! मुझे किसीने कहा था कि जांघ में दर्द होना प्लेग की निशानी है। सो मैं तो घबराकर बाहर जा बैठी। जमनालालजी आये तो मैंने कहा—"कमला को बुखार है और उसकी जांघ में दर्द है। आप अन्दर मत जाओ।" लेकिन वे सीधे अंदर गये और कमला के पलंग पर बैठकर उसके सिर पर हाथ फेरने लगे। वैसे तो उन्हें बहुत संकोच था। बच्चों से ज्यादा बात भी नहीं करते थे। लेकिन बीमारी में इतनी देख-भाल करते कि बस। जब वे पलंग पर बैठे तो उन्हें देखकर मेरी हिम्मत भी कुछ बढ़ी और मैं वहां गई। बाद में पता चला कि उसे तो योंही सादा बुखार था।

जब कमला ग्यारह साल की हुई तब गांव की स्त्रियां कहने लगीं कि कमला का ब्याह कब होगा। समाज में बाल-विवाह प्रचलित होने से उनका कहना स्वाभाविक था। फिर वे कहतीं, "तुम्हारी देहली (दरवाज़ा) तो क्वारी ही है।[1] इसलिए इसका जल्दी विवाह कर दो।" उधर लड़के की मां की भी स्वाभाविक इच्छा थी कि बहू जल्दी घर में आवे। मारवाड़ी-समाज में छोटी उमर में बहुतायत से विवाह होते थे। पर जमनालालजी बाल-विवाह के विरोधी थे। इस कारण उन्होंने चौदह वर्ष की होने पर ही कमला का विवाह करने का निश्चय किया।

यों नेवटिया-परिवारवाले भी सुधारक तो थ ही। जमनालालजी और केशवदेवजी ने इस विवाह को सुधारक-पद्धति से तथा सादगी से करने का विचार किया। पहले यह सोचा गया कि विवाह यदि बम्बई में होगा तो उसका समाज पर अच्छा असर होगा। बापूजी ने भी उसकी सम्मति दे दी। लेकिन बाद में जमनालालजी ने केशवदेवजी को साबरमती में शादी करने को राजी कर लिया। बापूजी को भी यह बात पसन्द आई। इन्होंने कहा कि आश्रम के वातावरण में शादी होने से वर-वधू पर अच्छे संस्कार पड़ेंगे। इस निश्चय से जमनालालजी को बड़ी खुशी हुई।

रामेश्वरप्रसाद के पिताजी का स्वर्गवास दो साल पहले हो गया था। उनके दादाजी रामवल्लभजी वृद्ध थे और देस में रहते थे। चाचा केशवदेवजी बम्बई में रहते थे। वे राष्ट्रीय विचार के थे और उनका जमनालालजी के साथ भाई का-सा सम्बन्ध हो गया था। जमनालालजी की यह इच्छा थी कि विवाह में स्त्रियां तथा बड़े-बूढ़े सब आवें और सादगी तथा सुधरे हुए ढंग से होनेवाले विवाह को देखें। इसलिए वे फतेहपुर गये और रामवल्लभजी तथा अन्य स्त्रियां विवाह में आवें, इसका आग्रह किया।

बरात में स्त्रियों को ले जाने का पहला मौका था और पहले बरात बनाकर आने की बात थी। फिर निश्चय हुआ कि बैठा ब्याह होगा। विवाह में समधी और समधनें आईं।

---

[1] जबतक घर में कोई लड़की ब्याही नहीं जाती तबतक देहली क्वारी मानी जाती है।

रामेश्वरप्रसाद बम्बई में मैट्रिक हो जाने पर गुजरात विद्यापीठ में पढ़ने गये थे। सरकारी कॉलेज की शिक्षा छोड़ राष्ट्रीय कॉलेज में शिक्षा के लिए अहमदावाद जाना उस समय वड़ी वात थी, खासकर राजस्थानी समाज में। पर यह भी केशवदेवजी के कारण ही सम्भव हो सका था। रामेश्वरजी वहां के वातावरण में घुल-मिल गये थे। खादी तो पहनते ही थे; विवाह के समय वाणे की जगह सादे खादी के कपड़े से ब्याहने आये।

नेवटिया-कुटुम्ब का डेरा गुजरात विद्यापीठ में था और हमारा लाल बंगले में। जमनालालजी ने मुझे वरपक्ष की स्त्रियों को विवाह के समय आने को आमन्त्रण देने के लिए भेजा। मैं गई। मुझे देखते ही वरपक्ष की औरतों ने घूंघट निकाल लिये। वे वोलीं, "जी क्या आवें ! वहां आप लोग नेगचार तो करेंगे नहीं, वहां देखें तो क्या देखें ?"

मैंने आकर सब वात जमनालालजी को वताई। जमनालालजी बोले, "ठीक है, मैं वहां जाकर उनको समझाऊंगा।" जमनालालजी वरपक्षवालों के यहां गये। वहां उन्होंने रामवल्लभजी तथा केशवदेवजी से वात की। रामवल्लभजी बड़े सज्जन पुरुष थे और विचारक भी, पर अवतक उनके यहां पर्दा होता था। इसलिए उनके पोते की बहू विना पर्दे के उनके सामने फेरे में वैठे, इसमें उन्हें संकोच मालूम हुआ। पर यह उलझन वापूजी ने दूर कर दी। उन्होंने जमनालालजी से कहा कि जब वरपक्षवालों ने वहुत-से सुधार किये हैं तो एक बात उनकी भी हम मान लें।

आज तो यह वात साधारण-सी मालूम देती है, पर आज से तीस साल पहले मारवाड़ी-समाज की जो स्थिति थी उसमें तो यह क्रान्तिकारी कदम ही था, पर समधियों के सहयोग से जमनालालजी के लिए यह काम भी सरल हो गया।

शादी में मारवाड़ी तरीके के खादी के कपड़े पहनकर और नाक तक घूंघट निकालकर कमला को चौरी (मंडप) में विठाया गया। विवाह मारवाड़ी पण्डित तथा पं० नेकीरामजी ने कराया। वाद में वापूजी ने आशीर्वाद दिया और सादगी से विवाह करने के लिए केशवदेवजी व जमनालालजी की सराहना करके विवाह-संस्कार के महत्व को बताया।

समधी तथा समधनें यह देखकर खुशी हुईं। वे कहने लगीं कि फेरे तो

जैसे समाज में होते हैं वैसे ही हुए। वर के दादा को भी यह सब अच्छा लगा।

कमला की सास के पैरों में तकलीफ हो गई थी। उनके पैर जुड़ गये थे। जमनालालजी ने उन्हें साबरमती बुलाया कि वे आकर वहां के वातावरण से लाभ उठावें।

वे आ गईं। बापूजी उनसे कहते थे कि मेरे साथ घूमने चला करो, पर वह कहतीं कि घूम कैसे सकती हूं, पांवों की तो यह हालत है!

बापूजी चाहते थे कि इनका शरीर अपने स्वाभाविक रूप में आ जाय और यह प्राकृतिक चिकित्सा से ही हो सकता था। बापूजी ने उनको उपवास की सलाह दी।

बापूजी के कहने से उन्होंने उपवास शुरू किये, पर निभना मुश्किल था। उनको उपवास की आदत कम थी। दो-तीन दिन बाद ही उनको उल्टियां होने लगीं, चक्कर आने लगे। उनका जो ब्राह्मण रसोइया था वह कहता—अन्न छूटा तो घर छूटा। बापू इधर हिम्मत बढ़ाकर जाते, उधर वे लोग घबरा देते।

कभी-कभी वह ज्यादा घबराने लगतीं तब मैं बापू के पास भागती जाती और कहती—"चलिये, वह तो कै कर रही हैं।"

शाम को बापूजी आते तब उनकी आधी बीमारी तो बापूजी का हँसता हुआ चेहरा देखकर ही दूर हो जाती। बापूजी कहते, "आज तो तबीयत और भी अच्छी है।" इस प्रकार वे बढ़ावा देते रहते। इसी तरह पंद्रह दिन तक उनको नींबू और पानी पर रखा। बाद में तो वह बापू के साथ मील-मील-भर घूम लेती थीं।

उनपर बापूजी का कुछ ऐसा असर हुआ कि वह बराबर खादी पहनती और खान-पान में भी फल, उबली सब्जी और नींबू का ही उपयोग अधिक करतीं।

कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। पं० मोतीलाल नेहरू अध्यक्ष चुने गये थे। देखने की इच्छा तो थी ही। लेकिन जब जमनालालजी ने कहा कि वहां बड़े लोगों के यहां ठहरना पड़ेगा, इसलिए बच्चों के लिए अच्छे कपड़े सिलवा लो, तब मेरी हिम्मत टूट गई। उस समय एक तो

साधारण खादी ही महंगी थी, उसपर से बढ़िया खादी के कपड़े सिलाने का प्रश्न आ गया। फिर मेरे सामने यह बात भी रही कि बाद में इन कपड़ों का क्या होगा। मैंने सोचा कि मेरे न जाने से यह सारा खर्च बच जायगा। उस समय लड़की कमला गर्भवती थी। मैंने सोचा कि यदि कमला वहां चली जाय तो उसपर अच्छे संस्कार पड़ेंगे। इसलिए मैंने जमनालालजी से कमला को साथ ले जाने के लिए कहा। वह सहजभाव से उसे ले गये। लेकिन वहां अधिक घूमने-फिरने से उसकी तबीयत खराब हो गई और जमनालालजी को बड़ी परेशानी हो गई। जमनालालजी को मेरा और कमला की सास का भी डर लगा होगा कि वहां जाकर क्या कहेंगे ? दो-चार दिन वहां इलाज करके उन्होंने उसे वर्धा भिजवा दिया। जब मुझे यह सब मालूम हुआ तो मुझे अपनी कंजूसी और असावधानी पर बड़ा अफ़सोस हुआ। लेकिन बाद में पछताने से क्या होता ?

: २५ :

नमक-सत्याग्रह

जब साबरमती-आश्रम में नमक-सत्याग्रह की चर्चा चल रही थी तब मैं वहीं पर थी। कई दिनों तक आश्रमवासियों की महत्वपूर्ण सभाएं होती रहीं। बापूजी उनके साथ चर्चा करते रहते। मैं भी चर्चा में उपस्थित रहती। बापूजी ने कहा, "सत्याग्रह में जिसको शामिल होना हो, वह निस्संकोच रूप से शामिल होवे। पर उसे सर्वस्व त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए। यह एक गम्भीर प्रश्न है और शामिल होने से पहले अपने घरवालों से पूछकर, सलाह-मशविरा करके जो अपनेको इसमें होम सकें, वे ही अपना नाम द। जिनकी पूरी तैयारी न हो, या थोड़ी-बहुत कमजोरी हो, वे हिम्मत के साथ साफ-साफ इन्कार करदें, यह मुझे अच्छा लगेगा।

बापूजी के इस निर्णय से आश्रम-भर में सनसनी फैल गई। हर स्त्री-पुरुष के मुंह पर यही चर्चा और यही बात थी। गांधीजी की प्रेरणा और संगति से वातावरण में पहले से ही जोश था, वह अब और बढ़ गया और दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया। अन्त में बापूजी के साथ जानेवालों की सूची तैयार होने लगी। उस सूची में ऐसे लोगों के नाम थे जो स्वराज्य लेकर ही घर लौटेंगे या उस काम में लग जायंगे, ऐसा व्रत लिये हुए थे। कुल उनासी आदमी तैयार हुए।

रोज-रोज की चर्चाओं से उत्साह तो सबमें था, पर जमनाजलालजी की गम्भीरता बढ़ती ही गई। उसका शब्दों में वर्णन करना कठिन है। हम दोनों में चर्चा हुई। उन्होंने कहा, "इस काम में मेरी तो सर्वस्व होमने की तैयारी है, अपनी तू देख।" मैंने उत्तर दिया, "बापूजी की टुकड़ी में अपने कुटुम्ब का एक आदमी तो होना ही चाहिए।" कमलनयन के लिए बापूजी से पूछने गई। बापूजी ने कहा कि उसकी उमर अठारह वर्ष से कम है।

बापूजी के इस उत्तर से पहले तो मैं सकपकाई, पर जब मुझे मालूम हुआ कि अठारह वर्ष से कम उमर के एक लड़के को लिया गया है तब मैंने बापूजी से कहा, "जब आपने एक लड़के को लिया है तब इसको भी इजाजत दीजिये।"

बापू ने जवाब दिया, "इसे अपवाद रूप में ले लिया है। एकाध की बात अलग है।" पर जब मैंने बहुत आग्रह किया तब बापूजी मान गये। अब कमलनयन को बुलाना था।

कमलनयन वर्धा-आश्रम में था। पिछले साल-डेढ़ साल से वह मलेरिया और काला आजार से पीड़ित था। एकसौ तीन-चार डिगरी तक बुखार हो जाया करता था। काफी कमजोर था, फिर भी यह समाचार पाकर वह उछल पड़ा। आश्रम से समाचार आया कि वह आना चाहता है, लेकिन उसका स्वास्थ्य बाधक है। मैं तो चाहती थी कि वह बापूजी के साथ जाय पर बापूजी ने कहा "अभी तो वह बीमार है। अच्छा होने पर बीच में भी टुकड़ी में ले लेंगे।" पर मैं तो घर का एक आदमी इस सत्याग्रह में देना ही चाहती थी। जमनालालजी का भानजा प्रह्लाद पोद्दार वहीं विद्यापीठ में पढ़ता था। उसने जाने की स्वीकृति दी, तो उसे शामिल करा दिया।

अन्त में दांडी-कूच की तिथि बापू ने जाहिर कर दी। चैत कृष्ण १२, गुरुवार, ता० १२ मार्च का वह दिन था। सब लोगों को यही लग रहा था कि बापूजी दांडी-कूच के पहले ही पकड़ लिये जायंगे। अब पुलिस आई, अब पुलिस आई, इसी खयाल से लोग रात-रात-भर जागते रहते। बापूजी का काम तो पूर्ववत् स्वाभाविक रीति से चलता रहता। वह तो बराबर नींद भी ले लेते। पर दूसरों को चैन कहां ?

दांडी-कूच के पहले दिन की शाम की प्रार्थना अद्भुत थी। साबरमती के तट पर हजारों लोग जमा हो गये थे। गम्भीरता छाई हुई थी। कुछ उत्तेजना भी थी। लेकिन बापूजी ने ज्योंही खड़े होकर अंगुली बताई कि भीड़ में निस्तब्धता छा गई। वातावरण एकदम गम्भीर बन गया। उन्होंने कहा, "मैं यहांपर स्वराज्य लेकर ही लौटूंगा, अन्यथा इसे मेरी अन्तिम प्रार्थना ही समझें।" इन शब्दों को सुनकर जनता की जो हालत हुई, उसे शब्दों में लिखना मुश्किल है। वह चित्र आज भी आंखों के सामने है।

दूसरे दिन सवेरे वापूजी आश्रम से विदा होनेवाले थे। लोग सड़कों पर, झाड़ों पर रात से ही बैठे थे। वे शंकित थे कि शायद बापूजी को विदा होने के पहले पकड़ लिया जाय। दूसरे दिन सवेरे की प्रार्थना होते ही वह निकल पड़े। विदाई का वह प्रसंग राम-वनवास जैसा ही हृदय को द्रवित करनेवाला था। लाखों लोग उनके पीछे भान भूलकर चल रहे थे, मानो समुद्र ही उमड़ पड़ा था। न कपड़ों की सुधि थी, न जूतों की। बच्चों और स्त्रियों का भी वहां क्या पता लगता! अद्भुत था वह दृश्य!

घर का प्रह्लाद टुकड़ी में था ही। फिर भी मेरी भावना इस दृश्य को देखकर प्रबल हो उठी कि कमल को टुकड़ी में होना ही चाहिए। मैं तो उत्तेजित थी ही। जमनालालजी गम्भीर थे। उनका दिमाग इन्हीं विचारों से भरा था कि बापूजी के शुरू किये गए काम को सफलता कैसे मिलेगी? उनका सारा चित्त काम की रचना में लगा हुआ था। हम दो-तीन पड़ावों तक तो बापूजी के साथ-साथ गये, पर बाद में बापूजी ने सबको लौटा दिया। मेरा मन नहीं माना तो मैं बापूजी से इजाज़त लेकर कमलनयन को लाने के लिए वर्धा पहुंच गई। जमनालालजी विलेपारले (बम्बई) में सत्याग्रह छावनी के काम में लग गये।

मैं जल्दी-से-जल्दी कमल को टुकड़ी में भेजने की तैयारी से वर्धा आई और सीधी आश्रम में पहुंची। देखने पर मालूम हुआ कि कमल तो बुखार में पड़ा है। पर मुझे तो एक ही धुन लगी हुई थी। मैं बुखार में ही उसे बजाजवाड़ी ले आई और टुकड़ी में जाने के लिए तैयार करने लगी। रातों-रात तैयारी के बाद सुबह की गाड़ी से ही रवाना होकर उसे बापूजी की टुकड़ी में दाखिल करा दिया। इधर जमनालालजी तथा किशोरलालभाई को सरकार बाहर कैसे रहने देती। काम शुरू करते ही उन्हें पकड़ लिया गया। बच्चियों को कन्या आश्रम रखकर मैं भी विलेपारले पहुंची।

कमलनयन बीमार तो था ही। पैदल-यात्रा के कारण उसकी आंखें सूज गईं और दीखना बन्द हो गया। बापूजी ने डाक्टर से पूछा तो उसने कहा कि इसकी आंखों की ज्योति गई। बापूजी ने आंखों पर मिट्टी बांधने को कहा। अब मैं सोचने लगी कि जोश में मैंने बापू को एक संकट में ही डाल दिया और बच्चे पर भी एक तरह से जुल्म किया। पर बापू ने प्रेम से यह

संकट उठाया। अब सवाल था कि कमलनयन का क्या किया जाय? टुकड़ी में ले जाना तो असम्भव था और टुकड़ी का एक सिपाही होने के कारण वह वापस घर भी कैसे जा सकता था। अतः उसे गुजरात विद्यापीठ को रवाना कर दिया।

इधर विलेपारले-छावनी में आकर मैंने देखा कि स्त्री-पुरुषों में बहुत जोश भरा है। सभा-व्याख्यान, नमक लाने के लिए टुकड़ियों का आना-जाना, ताड़ी की दूकानों पर धरना देने आदि काम बड़े उत्साह से चल रहे थे। मैं एक ताड़ी की दूकान के सामने धरना दे रही थी। वहां एक बूढ़ा आदमी नशे में चूर होकर ताड़ी पी रहा था। मैं उसके पास जाकर समझाने लगी कि ताड़ी मत पीओ, ताड़ी पीना पाप है। पर उसके मुंह की गंध को सहना कठिन था। फिर भी मैं समझाती रही। मुझे यह भी खयाल नहीं रहा कि नशे में आदमी को समझाना बेकार होता है।

जगह-जगह सभाएं होतीं और अच्छे-अच्छे कार्यकर्ता और वक्ता पकड़े जाते। नये-नये तैयार होने लगे। मेरी भी बोलने की बारी आई। मैं हिन्दी, मराठी, गुजराती और मारवाड़ी भाषाओं में बोलने लगी। मेरी भाषा शुद्ध तो कैसे होती। पर कम पढ़े-लिखे लोगों और स्त्रियों को मेरी बोल-चाल की भाषा में रस आता था। गांववालों को भी अच्छा लगता था। एक ही सभा में कई भाषा जाननेवाले होते थे। सभा में मुझे जिस भाषावाली बहनें सामने दीख पड़तीं, उसी भाषा में मैं बोलने लग जाती। 'अन्धों में काना राजा' की तरह मेरी पूछ होने लगी। पर मेरा हाल तो भगवान ही जानता था।

गाय के दूध का मेरा व्रत था। पर सब जगह उसका मिलना सम्भव कैसे होता। मैं उबला साग ही खाती। किसी तरह गाय के दही का इन्तजाम हो जाता। लेकिन भोजन-पानी की अव्यवस्थितता रहती ही। उससे मेरे पेट में तकलीफ रहने लगी। दस्त भी लग गये थे। लेकिन ऐसी तबीयत में भी व्याख्यानों के लिए जाना पड़ता था। यद्यपि मैं थकी हुई होती थी, फिर भी खड़ी होने पर और लोगों को देखकर मुझे जोश आ जाता और ग्रामाफोन के रिकार्ड की तरह भाषण दे डालती।

एक रोज सुबह पांच बजे मुझे उठाया गया और कहा गया कि स्वयं-

सेवक धारासणा जा रहे हैं। मैं उनको आशीर्वाद दूं। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी और बाहर आई। जोश तो भरा ही पड़ा था, मैंने कहा—"भाइयो, जीतकर आओगे तो अमर हो जाओगे और मरोगे तो आकाश में तारों की तरह चमकोगे।" ये शब्द कहकर मैं पाखाने गई। वहां जब मैंने अपने शब्दों पर विचार किया तब मुझे रोना आ गया। इन भाइयों को ऐसा कहने में मुझे क्या जोर लगा? अगर कमलनयन इस टुकड़ी में होता तो क्या मैं ये शब्द बोल पाती? मुझे यह भी खयाल आया कि मुझमें और जमनालालजी में इतना फरक है कि वह कर लेते, और दूसरों को कहने में उन्हें संकोच होता। मैं दूसरों को झट-से कह देती हूं। मैंने बोल तो दिया, पर मैं विकल हो उठी। इच्छा हुई कि मैं भी धारासणा जाऊं। अपनी ननद केशरबाई तथा ऋषभदासजी रांका के साथ धारासणा के लिए रवाना हो गई। रात को तीन-चार बजे बलसाड़ स्टेशन पर पहुंचे। स्टेशन पर एकदम गम्भीर और डरावना वातावरण था। अंधेरे में चारों ओर पुलिसवाले ही दिखाई पड़ते थे। उस गम्भीर और अन्धेरे वातावरण में रास्ता बतानेवाला भी कौन होता! आखिर तांगेवाले ने ले चलने को कहा। परन्तु उसने दस-बारह रुपये मांगे। हमने कहा कि जो लेना हो सो ले लेना, पर हमें ६ बजे से पहले पहुंचा दे। लोग धारासणा न पहुंचने पावें, इसलिए रास्ते-भर में जगह-जगह पुलिस की चौकियां लगी हुई थीं। पर लोग जिधर धारासणा में कैम्प लगा हुआ था वहां पहुंच ही रहे थे। तांगे या दूसरे वाहन कठिनाई से जा पाते थे। स्त्रियां होने से हमारे तांगे को जाने दिया गया। तांगेवाला भी होशियार था। हमें उसने ६ बजने में पांच मिनट पूर्व ही धारासणा कैम्प में पहुंचा दिया।

पुलिस का पूरा इन्तजाम होने पर भी हजारों आदमी वहां जमा हो गये थे। चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। वहां अब्बास तैयबजी और सरोजिनीदेवी के भाषण हुए। भाषण होते ही टुकड़ियां रवाना हो गईं। उधर पुलिस भी डण्डा लेकर तैयार थी। उन्हें शराब पिलाकर निहत्थे स्वयंसेवकों पर डण्डे-लाठियां चलाने के लिए तैयार किया गया था। आंटिया नामक पारसी अफसर उनका सरदार था। स्वयंसेवकों ने नमक के डिपो पर धावा बोल दिया। चारों तरफ लोहे के तारों की बाढ़ लगी हुई थी।

ज्योंही स्वयंसेवक आगे बढ़े कि पुलिस ने डण्डों की ऐसी मार मारी कि उतनी बेरहमी से जानवरों को भी मारना कठिन है। डण्डा लगता और स्वयंसेवक धरती पर गिर जाता। जिन्हें मार कम लगती, वे आगे बढ़ते और जिन्हें ज्यादा लगती, वे बेहोश हो जाते। गिरे हुओं को स्ट्रेचर पर ले जाया जाता। कई स्वयंसेवक तो होश में आते ही दौड़ पड़ते। डण्डों की मार के बावजूद जब स्वयंसेवक आगे ही बढ़ते रहे तब पुलिस के सरदार ने घुड़सवारों को उनपर छोड़ दिया, जिससे एकदम सन्नाटा छा गया। घोड़ों की टापों और डण्डों से स्वयंसेवक गिरने लगे। साढ़े दस बजे तक लगभग सातसौ घायलों को स्ट्रेचर पर उठाकर झोंपड़ी आदि में तथा खुले मैदान में सुलाया गया। चारों ओर की जगह घायलों से भर गई। चिकित्सा की व्यवस्था थी, पर बहुत अधिक लोगों के आ जाने से जिसे जो सूझा, वही उसमें लग गया। मैं एक घड़ा पानी लेकर पहुंच गई और गीले कपड़े से आंखों पर पानी के छींटे देने लगी। घायलों में श्री ढवण भी थे। उन्होंने होश आते ही फिर आगे बढ़ने की तैयारी बताई। बोले—"जानकीबाई, तुम्हीं त्यांच्या कड़े लक्ष्या ठेवा।" उनका इशारा अपनी पत्नी की ओर था। मानो कह रहे थे कि वह तो मरने की तैयारी से बढ़ रहे हैं, पत्नी की सार-सम्हाल अब मेरे जिम्मे। मैंने इशारे में ही उन्हें ठहरने को कहा। वह बहुत घायल हो चुके थे। यों तो सभी स्वयंसेवकों ने मार खाने में काफी वीरता और साहस का परिचय दिया था, पर मोहन नामक एक गुजराती लड़के ने तो कमाल ही कर दिया। पहले धावे में उसे उठाकर कांटों की बाढ़ में झोंक दिया गया। दूसरी बार उसकी अंगुलियों पर डण्डों की ऐसी मार पड़ी कि अंगुलियों की हड्डियां टूट गईं और जब तीसरी बार वह आगे बढ़ा तब उसका हाथ ही टूट गया। कमर में भी चोट आई। उसके हाथ की अंगुलियां अब भी टेढ़ी हैं। कितना जोश और कितना उत्साह था...!

उस दिन धावे के सरदार नरहरिभाई परीख थे। उनके सिर में डण्डे की भयंकर चोट आई थी। उन्हें खून से लथपथ देखकर विट्ठलभाई पटेल स्तब्ध रह गये। उनकी भव्य और लम्बी सफेद दाढ़ीवाली मुद्रा पत्थर की मूर्ति-जैसी लगती थी। नरहरिभाई का घाव धोकर मरहम-पट्टी की गई। होश में आते ही वह आगे बढ़ने को तैयार हो गये। लेकिन समय हो जाने

से सत्याग्रह बन्द रखा गया। एक अजीब लड़ाई थी वह। कहते हैं कि लड़ाई में तो दोनों पक्षों की ओर से वार होता है, दोनों पक्ष अपनी-अपनी बहादुरी के दांव-पेंच बताते हैं और प्रायः समान शक्ति से भिड़ते हैं। पर यहां तो एक ओर पुलिस मारने में वीरता दिखा रही थी और दूसरी ओर स्वयंसेवक मार खाने में वीरता का परिचय दे रहे थे।

हम घायलों की टुकड़ी के साथ छावनी लौट आये। विलेपारले-छावनी की टुकड़ी ने काफी वीरता दिखाई थी और वहां काम भी बहुत अच्छा होता था। सैकड़ों भाई जेल गये, और काम भी चलता रहा। आखिर सरकार यह सब कबतक सहन करती। इस काम को सरकार के खिलाफ कहकर छावनी ज़ब्त कर ली गई। लोग गिरफ्तार कर लिये गए।



आनरेरी मजिस्ट्रेट
जमनालालजी

सेठानी जानकीदेवीजी

राष्ट्रसेवी दम्पती

राष्ट्र का अतिथिगृह : बजाजवाड़ी

नागपुर के चीफ कमिश्नर सर बेंजमिन रोबर्टसन के साथ वर्धा के अपने पुराने मकान में जमनालालजी (केन्द्र में खड़े)
(सन् १९१७)

कांग्रेस-अध्यक्ष सुभाषबाबू के वर्धा-आगमन के समय स्टेशन पर



१९३० के राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल जानेवाली बहनें
(दांए कोने में जानकीदेवीजी और उनके पास जमनालालजी की बहन केसरबाई बैठी हैं)



बजाज परिवार के कुछ सदस्य मीराबहन (बांए ओर खड़ीं) तथा खान अब्दुल गफ्फार खां की पुत्री मेहरताज (बांई ओर कुर्सी पर) व पुत्र अब्दुलअली (नीचे की पंक्ति में बांए) के साथ।

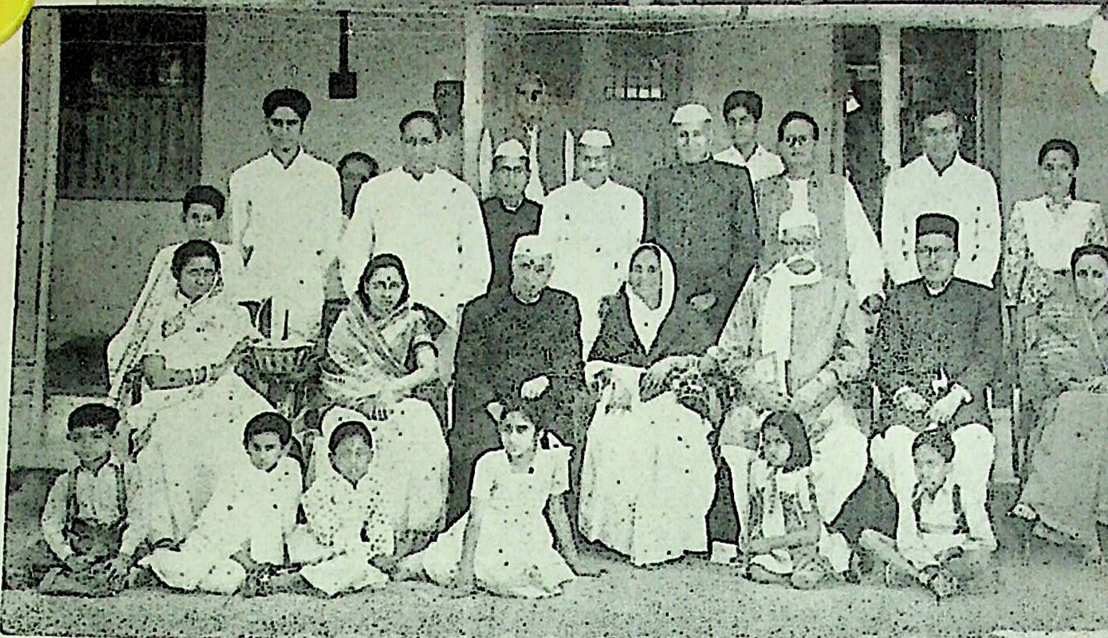


सत्याग्रही जमनालालजी
जयपुर-सत्याग्रह के समय शासनाधिकारियों की जोर-जबरदस्ती से आहत
(बनियान पर खून के धब्बे पड़े हैं)



बजाजवाड़ी में : सामूहिक भोजन





वर्त्तमान बजाज-परिवार के बीच बजाजवाड़ी में पं० नेहरू तथा पं० रविशंकर शुक्ल

: २६ :

आन्दोलन में योग

विलेपारले छावनी जब्त हुई, उस समय मैं माटुंगा में केशवदेवजी नेवटिया के यहां रहती थी। एक दिन पूज्य कस्तूरबा के साथ गोशीबहन, पेरीनबहन आदि चार-पांच बहनें आईं और कहने लगीं कि अब यहां बहनें पकड़ी जाने लगी हैं। आप भी पकड़ ली जायंगी। जेल का मोह छोड़ो। काम चलना चाहिए। इसलिए अगर आप कलकत्ते जाकर विलायती कपड़े के बहिष्कार का काम हाथ में लें तो बहुत अच्छा होगा। वहां के मारवाड़ी-समाज में आप ज्यादा काम कर सकेंगी।

जेल में जमनालालजी के पास भी ये बातें पहुंचने लगीं। बाहरवालों के कष्ट की बातें सुनकर उनको अच्छा नहीं लगता। और वह कहा करते थे कि हम तो यहां (जेल में) आराम से रहें और बाहर कार्यकर्ता कष्ट में हों, यह ठीक नहीं। लेकिन उन्हें जब मालूम होता कि उनके आत्मीय लोग बाहर काम कर रहे हैं तब उन्हें बड़ी खुशी होती और उत्साह बढ़ाने के लिए वह उन्हें चिट्ठियां लिखते। एक पत्र में तो उन्होंने मुझे यहांतक लिख दिया कि अबतक तो तुम जमनालाल की पत्नी के रूप में ही पहचानी जाती थीं, पर अब जब मैं छूटकर आऊंगा तब लोग कहेंगे कि जानकीबाई के पति आये हैं। यही उनकी महानता थी। वह छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता का भी उत्साह इतना बढ़ाते कि वह और अधिक उत्साह और तेजी से काम पर जुट जाता। बाहर के व्याख्यानों के कारण मेरा नाम अखबारों में आने लगा। एक दिन बापूजी ने यरवदा-जेल से पत्र भेजा।

२७–७–१९३०

चि० जानकीबहन,

तुम्हारा पत्र मिला। अब उत्साह क्यों न होगा ? अब तो भाषण

करती हो, अखबारों में नाम आता है। समय-समय पर जानकी-बाई बजाज का नाम अखबारों में देखता हूं, तब उससे ऐसा ही लगना चाहिए कि जमनालाल और हम सब जेल में ही रहें। मुझे तो विश्वास था ही कि तुम्हारे दिखाई देनेवाले अविश्वास के पीछे पूरा आत्मविश्वास था। ईश्वर उसमें प्रगति करे।

बापू के आशीर्वाद

मेरा अधिक-से-अधिक उपयोग हो, इस खयाल से पेरीनबहन और कस्तूरबा आदि के समझाने पर मैं कलकत्ता के लिए तैयार हो गई। कमला मेरे साथ रही। बड़ी मुश्किल से उसकी सास ने दस दिन के लिए उसको मेरे साथ किया था, पर वह दो महीने मेरे साथ रह गई।

हमलोग वर्धा आये। मैंने जाजूजी से कहा कि मुझे कलकत्ता विलायती कपड़ा बन्द कराने के लिए जाना है। उन्होंने कहा कि कलकत्ता भले ही जाओ, पर वहां विलायती कपड़े का बन्द होना मुश्किल है। मैं सोच में पड़ गई कि अब क्या करूं? बम्बई से कलकत्ता के लिए आई और वहां काम की उम्मीद कम ही है। फिर बिना बुलाये जाने पर काम कैसे होगा? इसलिए पहले बिहार जाने का तय किया। बिहारी लोग सरल होते हैं और वे मेरा उपयोग ले सकेंगे, ऐसा उस समय समझा गया। मैं कमला, मदालसा वा महादेवलालजी सर्राफ के साथ बिहार गई।

उस समय वहां आतंक छाया हुआ था। सभा करना, सभा में जाना, भाषण करनेवालों को ठहरने देना आदि अपराध माना जाता था। इस कारण लोग पकड़ जाते थे। जुरमाना भी होता था। लक्ष्मीबाबू हमारा इन्तज़ाम करते थे। पर कहीं-कहीं तो ठहरना भी मुश्किल था। धर्मशाला आदि में ठहरना पड़ता था। गांव में जाने पर सभा की डोंडी पिटवाई जाती। जैसे-तैसे करके कुछ लोग सभा में आ ही जाते। पुरुषों को तो भाषण करते ही पकड़ लिया जाता, पर स्त्रियों को पकड़ने में वहां के अधिकारियों को संकोच होता। हमारी तो जेल जाने की तैयारी थी ही। एक महीने में हम ४५ गांव घूमे। एक-एक गांव में लगभग तीन-तीन सभाएं होतीं। एक सार्वजनिक, दूसरी व्यापारियों की और तीसरी बहनों की। महादेवलालजी तो सभा में बोलते ही कैसे? क्योंकि वह जानते थे

कि बोलते ही पकड़ लिये जायंगे। मदालसा कुछ-कुछ बोलती थी। अधिक तो मुझे ही बोलना पड़ता था। आखिर मेरा गला बैठ गया। मैं बोलती तो लोगों तक आवाज़ पहुंचना कठिन था, इसलिए एक दिन मैंने कमला से बोलने के लिए कहा।

कमला उसके लिए बड़ी मुश्किल से तैयार हो पाई। आखिर बहुत जोर देने पर एकदम उठी और बोली—"आप सब लोग बिल्ली की तरह क्या बैठे हो? नेता लोग तो जेलों में हैं।" इस तरह के दस-पांच शब्द बोलकर बैठ गई। यही उसका पहला और आखिरी भाषण था।

घूमते-घूमते हम दुमका पहुंचे। वहां हमारे कुछ सम्बन्धी और परिचित लोग थे। लेकिन वे हमें अपने यहां उतारने और खुले दिल से हमारा सत्कार करने में डरते थे। उनके लिए तो यह एक प्रकार का धर्म-संकट ही था। अगर वे हमें अपने यहां ठहराते या खिलाते-पिलाते तो जेल जाने या जब्ती का डर था और कहे बिना जी भी कैसे मानता। पर हमने उन्हें अभय-दान दे दिया और हम स्वयं ही एक धर्मशाला में जाकर ठहर गये। उन्होंने डरते-डरते किसीके हाथ एक खास किस्म के लोटे में, जोकि मारवाड़ी-समाज में शौच जाने के लिए होते हैं, गाय का दूध भरकर भिजवा दिया और एक कोने में रखकर इशारा कर दिया। यह भी कहलाया कि अगर दूकान पर आप लोग आयेंगे तो हमारी बड़ी मुश्किल हो जायगी। लेकिन हमें तो सब दूकानों पर जाना ही था। लोगों में इतना आतंक था कि वहां हमारी सभा हो पायगी या नहीं, इसमें शंका हो रही थी। डोंड़ी भी कौन पीटता? हमसे बात करने में भी लोग डरते थे। दूकान से उठकर जाते तब उनकी कहीं जान में जान आती। पुलिसवाले भी चक्कर लगा रहे थे, पर वे भी क्या करते? शायद उन्हें स्त्रियों को पकड़ने की अनुमति न हो, और दूकानदार तो कानून के शिकंजे के बाहर ही थे। वे तो बेचारे 'आओ बैठो' तक कैसे कहते। पुलिसवाले हमारे पीछे-पीछे ही घूमते थे।

बिहार के इस दौरे में हमें बिहारवालों की सरलता, नम्रता और भोलेपन का बहुत अनुभव मिला। यों राजेन्द्रबाबू से पुराना परिचय था और उनकी नम्रता, सरलता और शान्त स्वभाव से हम सब परिचित थे, पर बिहार जाने पर बिहारियों के सद्गुणों का और भी अधिक परिचय

मिला। उन दिनों बिहार में इतना सख्त परदा था कि हाथ पकड़कर स्त्रियों की सभा में बहनों को लाने की कोशिश करनी पड़ती थी। स्त्रियों की बात तो दूर, पुरुष भी घबड़ाते थे कि हमारी स्त्रियां सभा में कैसे जायंगी। संकोचवश वे हमें मना भी नहीं करते और स्त्रियों का बाहर निकलना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता, क्योंकि सामाजिक रिवाज़ ही कुछ ऐसा था। समाज का डर भी तो कोई चीज़ है !

दुमका से हम कलकत्ता पहुंचे। वहां हम बैरिस्टर कालीप्रसादजी खेतान के यहां गये। जमनालालजी उन्हींके यहां ठहरा करते थे। खबर लगते ही सुभाषबाबू मिलने आये। बड़े प्रेम से बातें कीं। उनकी इच्छा मुझे अधिक-से-अधिक सहयोग देने की थी। मैं तो विदेशी कपड़ों के बहिष्कार के लिए वहां गई थी। उन्होंने इस विषय में सलाह दी और दूसरे लोगों से भी बात की।

एक दिन मैं इसी सिलसिले में दासबाबू (श्री चित्तरंजनदास) के यहां गई। उनका तो सन् २४-२५ में स्वर्गवास हो चुका था। पर उनकी पत्नी वासन्तीदेवी से मेरी बातें हुईं। मुझपर तो आन्दोलन का नशा छाया हुआ था। मैंने उनको उपदेश देना शुरू किया। मैंने कहा—"आप काम करें और जेल जायं तो लोगों पर बहुत असर पड़ेगा।" उनकी परिस्थिति की मुझे कल्पना ही नहीं थी। उनके पुत्र का भी देहान्त हो चुका था। विधवा बहू की जवाबदारी भी उनपर थी। इस विपत्ति में भी उन्होंने सहज भाव से उत्तर दिया कि विधवा बहू को अकेले छोड़ना कठिन है। जो महान होते हैं, वे दुःख में अपनी सहज नम्रता बनाये रखते हैं।

लेकिन मेरी ऐसी बातों से महावीरप्रसादजी पोद्दार हँसा करते थे। वह जानते थे कि मुझमें जोश तो बहुत है, पर इतने बड़े शहर में यह सब होना कठिन है। लेकिन वहां सीतारामजी सेक्सरिया मुझे बराबर सहयोग देते थे।

कुछ लोग बाजार में जाकर पिकेटिंग करने लगे। उन्हें पकड़ा जाने लगा, पर स्त्रियों की तैयारी कम देखी।

दो महीने तक मैं वहां रही। और कामों के साथ-साथ इन दिनों मैंने वहां खादी-प्रचार और परदा-निवारण का भी कुछ काम किया।

: २७ :

पुत्र का शिक्षण और विवाह

कमल की जचकी के समय नागपुर की अंगरेज डाक्टरनी मिस एण्डरसन को बुलाया। बहुत सेवा-भावी डाक्टर थी। गरीबों की खूब सेवा करती। १५ रुपये फीस थी, लेकिन २ रुपये दे दो, या कुछ भी मत दो तो वह फिक्र नहीं करती। रात-भर गरीबों की झोंपड़ियों में बैठी रहती। कुरसी की कोई जरूरत नहीं, ईंट पर ही बैठ जाती। १६ भाई-बहन थे उसके। माता-पिता ने कहा कि एक बच्चा हिन्दुस्तान की सेवा को जाय, तो यह चली आई। ब्याह भी नहीं किया। बरसों बाद बहनों ने लिखा—अब वापस आकर देखो, तुम्हारे कितने भानजे-भानजी हो गये। मिस एण्डरसन ने उन्हें जवाब दिया—तुम लोग हिन्दुस्तान आओ। अपने हजारों बच्चे तुम्हें दिखाऊंगी।

कमल जब आठ मास का था तब मैं बम्बई गई। वहां एक नर्स से स्नेह हो गया। उसने मुझसे एक चित्र खिचवाने के लिए कहा। मैं ठहरी घूंघटवाली—बाबा! कोई देखेगा तो क्या कहेगा। लेकिन वह नहीं मानी और चुपके-से मुझे ले गई और चित्र खिचवाया। मैं समझी पोस्टकार्ड के माप का चित्र होगा। लेकिन जब आया तो ४ फुट लम्बा-चौड़ा। अब इसे रखूं कहां? कालबादेवी, बम्बई की दुकान की अलमारी में उलटा करके रख दिया—१५ वर्ष तक वहां रहा। जब कभी आती तो देख लेती। फिर जब समझ आई तो वर्धा ले जाकर शीशे में मंढ़वा दिया।

कमलनयन छोटी उमर से ही विनोबाजी के आश्रम में रहता था। शुरू-शुरू में वही एक छोटा लड़का विनोबाजी के आश्रम में रहा था। विनोबाजी स्वयं उसकी देखभाल रखते थे और आश्रम के कामों के अलावा उसको लिखाने-पढ़ाने का भी खयाल रखते थे। कमलनयन का आश्रम के कामों में

तो मन लग गया था, परन्तु लिखने-पढ़ने में उसका मन कम लगता था। जवाहरलालजी और घनश्यामदासजी (बिड़ला) कमलनयन की लिखाई-पढ़ाई के बारे में जमनालालजी को ठपका (उलाहना) देते रहते थे। एक दिन जवाहरलालजी ने बापू से कह दिया, "कमलनयन जमनालालजी का काम कैसे सम्हालेगा ? इसे बोलना-लिखना तो आना चाहिए। गढ़ा खोदने, संडास साफ करने, आटा पीसने, लकड़ी चीरने और रोटी बनाने वगैरा से आगे दुनिया में कैसे काम चल सकेगा ? कुछ पढ़ाई-लिखाई भी तो होनी चाहिए। कुछ अंगरेजी भी तो सीखनी चाहिए।" बापू ने कहा—"कमल-नयन की इच्छा हो तो पढ़ाई शुरू करवा सकते हैं। बाकी उसे आश्रम के ही कामों में रस आता रहा है, पढ़ाई में मन कम लगता है। विनोबा कहते हैं कि जब पढ़ाई की भूख लगेगी तब पढ़ लेगा।"

डांडी-मार्च के बाद और नमक-सत्याग्रह के दौरान में कमल को गुज-रात विद्यापीठ में स्वयंसेवक शिविर में रखा गया था। जब सत्याग्रह बन्द हुआ तो उसकी इच्छा कुछ पढ़ने की हुई। बापूजी की सलाह से अंगरेजी पढ़ाने का निश्चय हुआ। श्री वालजीभाई (वालजी गोविन्दजी देसाई) अपने स्वास्थ्य-सुधार व हवाफेर के लिए पूरे कुटुम्ब के साथ अलमोड़ा जा रहे थे। बापूजी ने कमल को भी उनके साथ कर दिया। वालजीभाई ने काफी परिश्रम उसपर किया। इधर बापू गोलमेज-परिषद् (राउन्ड टेबल कान्फ्रेन्स) में चले गये। उनके लौटने के पूर्व ही यू० पी० में लगान-बन्दी आन्दोलन छिड़ गया। बापूजी ने आते ही, जितने डांडी-यात्री थे, उन सबको साबरमती-आश्रम में बुलवाया, जिससे आगे का कार्यक्रम निश्चित किया जा सके। कमल को भी इसी प्रकार का पत्र गया और उसमें ताकीद थी कि उसको सीधे आश्रम में आ जाना है, सत्याग्रह आदि के बारे में सोच लेंगे। कमल वालजीभाई से छुट्टी लेकर साबरमती जाने के लिए निकल पड़ा। दिसम्बर के आखिरी दिन थे। उन दिनों बागेश्वर में, जोकि अलमोड़ा से तीस-चालीस मील उत्तर में गोमती और सरयू नदी के संगम पर है, बड़ा सालाना मेला भरा करता है। उस मेले में तिब्बत के भोटिया लोग माल लेकर ऊपर से नीचे आते हैं और गर्मियों के शुरू में यहां से माल लेकर तिब्बत चले जाते हैं। कमल ने सोचा कि अलमोड़ा से नीचे उतरकर बागे-

श्वर होते हुए चला जाय तो मेला भी देखा जा सकेगा। साबरमती ठीक समय से पहुंचा जा सके, यह हिसाब देखकर वह अलमोड़ा से निकल पड़ा।

मेले के प्रबन्ध के वास्ते अलमोड़ा से कई कांग्रेसी कार्यकर्ता पहले से ही वहां पहुंच चुके थे। इसी बीच यू० पी० में लगान-बन्दी आन्दोलन शुरू हो जाने से मेले में गये हुए कार्यकर्ताओं को भी जोश था और उन्होंने एक मीटिंग बुलाने का ऐलान किया। मीटिंग का मुख्य उद्देश्य मेले में सफाई की व्यवस्था आदि के बारे में विचार करने का था, फिर भी कार्यकर्ता लोगों का राजनैतिक व्याख्यान करने का भी इरादा था। सरकार ने मेले के दौरान में १४४ की धारा लगाकर मीटिंग पर पाबन्दी लगा दी। जिस रोज मीटिंग होनेवाली थी उसी रोज कमल भी वहां पहुंचा। जब कार्यकर्ताओं को उसके पहुंचने की सूचना मिली तो वे सब उससे मिलने आये। वे लोग काफी जोश में थे और १४४ की धारा का लगाना अपने स्वाभिमान के विरुद्ध समझकर उसे तोड़ने का निश्चय कर चुके थे। उन्होंने कमल से भी आग्रह किया कि मीटिंग में बोलना होगा। कमल नमक-सत्याग्रह में कई बार पकड़ा गया था, परन्तु कम उमर का होनेसे छोड़ दिया गया था। इस कारण जेल से बचता गया। इसका उसके मन में असंतोष भी था। यहां स्वाभाविक ही उसको अच्छा मौका मिला, ऐसा उसको लगा। परन्तु चूंकि बापूजी का आदेश आ चुका था, उसने कार्यकर्ताओं को समझाने का काफी प्रयत्न किया। उसने कहा कि बापूजी के आदेश को तोड़ना नियम के विरुद्ध होगा। उसने मीटिंग में भाग लेने की अपनी लाचारी प्रकट की। पर कार्यकर्ता आग्रही थे। वे बड़ी मुश्किल से इस बात पर राजी हुए। उन्होंने कहा कि कमल मीटिंग में जरूर शामिल हो, भले ही भाषण न दे। कमल इस बात को मान गया।

शाम को मीटिंग में सब लोग पहुंचे तो पता चला कि कार्यकर्ताओं ने कमल का नाम भी उससे बिना पूछे ही बोलनेवालों में घोषित कर दिया है। यही नहीं, पहले से ऐलान भी हो चुका है और पर्चे भी बंट चुके हैं। यह देखकर उसे ताज्जुब हुआ; पर खुशी भी हुई कि जेल जाने का मौका तो आया। लेकिन दूसरी ओर लाचारी भी महसूस होती थी कि बापजी ने कानून-भंग करने को मना करके सीधे आश्रम पहुंचने को लिखा है।

आखिर में बाध्य होकर उसने मीटिंग में बोलना ही ठीक समझा। वहां वह मेले की व्यवस्था आदि के विषय पर ही बोला। उसने साफ जाहिर कर दिया कि बापूजी के आदेशानुसार किसी तरह राजनीति के विषय पर बोलना अनुचित है। लेकिन मीटिंग होने पर अन्य लोगों के साथ कमल को भी पुलिस ने पकड़ लिया।

वहां मजिस्ट्रेट नहीं था। उसे अपने सदर मुकाम से बुलाना पड़ा। तबतक तीन-चार रोज सबको हिरासत में ही रखा गया। बागेश्वर में किसी ग्वाले के मकान के नीचे के हिस्से को, जहां ढोरों को रखा जाता था, हवालात का रूप दे दिया गया। मजिस्ट्रेट के सामने कमल ने अपनी अक्खड़ता के मुताबिक जवाब दिये, जिसकी वजह से उसका मुकदमा करने में मजिस्ट्रेट को बहुत देर लगी। मजिस्ट्रेट उसी रोज मुकदमा समाप्त करके अपने सदर मुकाम चला जाना चाहता था। परन्तु रुकना पड़ा। इस नाराजी की वजह से या जो भी कुछ उसको लगा हो, उसने कमल को छः महीने की कड़ी सजा, कुछ जुरमाना और उसके बदले में सजा तथा 'सी' क्लास दिया। दूसरे रोज सबको पैदल ही सोमेश्वर तक लाया गया और वहां से बस द्वारा अलमोड़ा की जेल पहुंचा दिया गया। अलमोड़ा में कोई पन्द्रह रोज रखा, फिर हरदोई-जेल में, जहां छोटे लड़कों के लिए प्रबंध था, कमल व दूसरे एक साथी लड़के का तबादला कर दिया गया। हरदोई-जेल में वह करीब चार-पांच महीने रहा। उसमें अधिकतर तो उसका समय 'सी' क्लास में ही कड़ी सजा के साथ कटा। करीब १७ वर्ष की उम्र में उसका ४२ पौंड वजन घट गया। इस बीच असेम्बली आदि में सवाल-जवाब होने की वजह से उसे करीब दो-तीन हफ्ते अस्थायी तौर पर 'बी' क्लास दिया और बाद में 'ए' क्लास कर दिया गया। उसके बाद उसको बरेली डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया। बरेली में 'ए' क्लास रहने से खुराक कुछ अच्छी मिली। आराम और अच्छे साथियों में रहने से (साथियों में श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित के पति श्री आर० एस० पंडित भी थे। इनसे कमल का काफी निकट का परिचय था ही और वह उसको सिखाने में रस भी लेते थे) उसके खोये हुए वजन में पन्द्रह-बीस पौंड वापस मिल गये। जेल में सजा का बाकी भाग पूरा करने के लिए करीब एक महीना ही रहना पड़ा। जुरमाने की वसूली में

पुलिस ने वर्धा की दूकान पर जाकर कई चीजें जब्त कर लीं और उनको वेचकर किसी कदर जुरमाना वसूल किया।

जेल से छूटने पर उसने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा की परीक्षा दी और १९३२ का सत्याग्रह वन्द हो जाने पर वापूजी की सलाह से प्रोफेसर जे० जे० वकील के स्कूल में पूना और विलेपारले में करीब साल-भर पढ़ाई की और फिर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मध्यमा की परीक्षा दी। १९३५ में वापूजी ने उसको अंगरेजी के अभ्यास के लिए सीलोन भिजवा दिया। इसी वीच कलकत्तेवाले श्री लक्ष्मणप्रसादजी पोद्दार की लड़की के साथ उसकी सगाई की वातचीत चली।

सावित्री बहुत सुन्दर थी, इसलिए मेरा मन तो उसकी ओर झुका हुआ था, पर काफी दुबली होने से मन में डर भी था कि इसके वाल-बच्चे कैसे होंगे?

लड़कीवालों के विशेष आग्रह पर वापू ने सगाई पक्की कर दी। कलकत्तेवालों की स्वाभाविक इच्छा थी कि शादी ठाट-वाट से हो, वारात में काफी लोग आवें। वापूजी से सलाह करके वारात में पंद्रह आदमी ले जाना तय किया। बापूजी ने पांच आदमी सुझाये थे और विनोवाजी ने तीन।

बच्छराजजी के कुटुम्ब में तीन पीढ़ियों में पहला लड़का हुआ था। इसलिए गांव, कुटुम्ब तथा सम्बन्धियों की अपेक्षा थी कि उसकी शादी में सबको वारात में जाने का मौका मिलेगा। पर जमनालालजी ने जब पन्द्रह की संख्या तय की, जिनमें कि आधी स्त्रियां होंगी, तो वहुतों को निराशा हुई और कुछ को तो बुरा भी लगा।

विवाह में खादी का प्रयोग होना ही था। सावित्री की इच्छा जरी की साड़ी पहनने की थी। सो चर्खा-संघ को खास आर्डर देकर जरी की साड़ी मंगाई गई।

लड़कीवालों ने कमलनयन के लिए खादी के ही कपड़े वनवाये। रेशमी शेरवानी और जरी का साफा। कलकत्ते से एक स्टेशन पहले ही वे कपड़े लेकर आये और उन्होंने चाहा कि उन कपड़ों को पहनकर ही वह स्टेशन पर उतरे, पर कमलनयन वर्धा से ही सफेद कुर्ता, धोती, टोपी और केसरिया दुपट्टा लगाकर रवाना हुआ था और इसी पोशाक में वह कलकत्ते उतरा।

उसका कहना था कि खादी के सादे, अच्छे और सफेद कपड़े ही धार्मिक विधि के समय होने चाहिए। विवाह की वेदी पर भी उसने यही कपड़े पहने।

स्टेशन पर बारात के स्वागत का पूरा इंतजाम था। पर जब बारात में तेरह आदमी देखे तो लड़कीवालों का उत्साह ठंडा हो गया, क्योंकि उन्होंने बड़ी तैयारी की थी और समझा था कि कम-से-कम पचास-साठ लोग तो होंगे ही।

सुबह हम लोग पहुंचे और शाम को छह बजे फेरे हुए। दूसरे ही दिन हमें रवाना होना था। बिड़लाजी अपने यहां पार्टी देना चाहते थे। लड़कीवाले अपने यहां जिमाना चाहते थे। जमनालालजी ने कहा कि हमको तो यहां एक भोजन करना है, कहीं भी हो। आखिर बिड़लाजी के यहां पार्टी हुई। लड़कीवाले परिवार के सब लोगों के लिए कपड़े वगैरा देना चाहते थे। लेकिन हमने लेने से इनकार कर दिया। रामकृष्ण के लिए भी उन्होंने कमल के समान ही कपड़े और ज़ेवर बनवाये थे, पर हमने कहा कि हम तो केवल वर के पांच कपड़े ले सकते हैं। मिलनी आदि के नेगचार हमने छोड़ दिये। कमलनयन अभीतक टीके का एक ही रुपया शकुन के तौर पर लिया करता है।

लड़कीवालों ने अपनी लड़की को क्या दिया-लिया यह न तो कभी पूछा और न हमें इसकी कुछ भी कल्पना ही थी। वर्धा पहुंचने पर कलकत्ते के कुछ मित्रों वगैरा ने दहेज के बारे में पूछताछ की कि कितना क्या-कुछ दहेज लिया तो जमनालालजी को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि हमने दहेज लिया ही नहीं था।

: २८ :

जेल-यात्रा

इधर सत्याग्रह चल रहा था, उधर मैं विदेशी कपड़े के वहिष्कार, शराब की दुकानों पर पिकेटिंग आदि के कामों में लगी थी। जनवरी के दिन थे। लन्दन में हो रही गोलमेज-परिषद् खतम हुई। वापूजी तथा और वड़े-वड़े नेता जेल से छूटे। गांधी-अर्विन समझौता हुआ। करांची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। वापूजी दूसरी गोलमेज-परिषद् में विलायत गये। वहां से खाली हाथ लौटे और सत्याग्रह फिर शुरू हो गया। वापूजी तथा सारे नेता लोग गिरफ्तार हो गये। मैं भी सत्याग्रह के काम में लग गई। इस वार वर्धा में वहनों को इसमें भाग लेने के लिए तैयार करने लगी। वर्धा के मूलचन्दजी भैया की मां भी, जो परदे में रहनेवाली और पुराने खयाल की मारवाड़ी महिला थीं, जेल जाने को तैयार हो गईं। मुझे जेल जाने की और वहनों को जेल के लिए तैयार करने की ऐसी धुन लगी, जैसे पीहर जाने का ही उत्साह हो। मेरा यह काम जोर से चलने लगा तव सरकारी अधिकारियों ने मुझे वाहर रखना खतरनाक जानकर गिरफ्तार कर लिया। दूसरे दिन जेल में ही मुकदमा हुआ और छह महीने की सजा दे दी गई।

जवतक मैं वर्धा-जेल में रही तवतक खाने का डव्वा घर से आता रहा। कुछ दिन पहले ही कमला के लड़का हुआ था और वह वहीं थी। उसका भी रह-रहकर ध्यान आता था। कुछ दिन वर्धा रहने के वाद नागपुर वदली का हुक्म आया। मुझे डर लगा कि हे भगवान, अव कैसे होगा? उस दिन रात को सोई तो सपने में भी कमला के वच्चे को झूला झुलाने लगी। अपना नागपुर ले जाना घरवालों से छिपाती रही। 'गांधीजी की जय' के नारे लगाते हुए हम जा रहे थे।

अव मैं नागपुर-जेल में थी। जेल क्या थी, एक वड़ा-सा राजमहल ही

था। एक के बाद एक, इस तरह तीन-चार दरवाजे लांघने पर एक साफ कोठरी मिली। वहां दस कोठरियां थीं। एक कोठरी में लोहे की पट्टी का पलंग आदि सामान था। अपने साथ जो चीजें थीं, उन्हें मैंने खोलकर घर की तरह जमा लिया।

वहां के सुपरिण्टेण्डेण्ट अनुशासन के बड़े कठोर थे और कैदी उन्हें जालिम कहा करते थे। मैं वहां 'ए' क्लास में थी। उन्होंने मुझसे आवश्यक सामान आदि के बारे में पूछा। मैंने कह दिया—"और तो जो कुछ है उसीमें चल जायगा, लेकिन मेरा गाय के ही घी-दूध का नियम है।" उन्होंने कहा कि गाय का दूध तो यहां से दे दिया जायगा, घी घर से मंगवा सकती हो। मैंने उबले साग और सूखी रोटी के लिए ही कहा, क्योंकि मिर्च से परहेज था।

जब मैंने देखा कि वहां साथी कैदियों में स्टोव सुलगाने के लिए दिया-सलाई की भी खींचा-तानी चलती है तब मैंने कच्चे दूध में ही नीबू निचोड़ कर उसीका दही जमा लेने का तय किया। बैंगन का उबला साग और सूखी रोटी आती। उसीपर बिना तपा घी रखकर खा लिया करती। ठंडे पानी से ही नहाती और कपड़े धो लेती। हमारे यहां टट्टी के लोटे को मिट्टी से मांजने का रिवाज है। जब कोई टट्टी होकर आता और अपनी आदत के अनुसार मेरी बाल्टी में लोटा डुबा देता तब मैं बाल्टी को फिर मिट्टी से मांजती। इस तरह मेरा काम बढ़ता ही जाता था।

पानी में काम करने और ठंडा तथा रूखा खाने से मुझे दिन में तीन-तीन, चार-चार टट्टियां और उल्टियां होने लगीं। बुखार भी आने लगा। डाक्टर ने दवा देने को कहा, पर मैंने दवा लेने से इनकार कर दिया। मेरी तबीयत दिन-पर-दिन बिगड़ती ही गई। कोठरी का ताला शाम को पांच बजे बन्द हो जाता। रात को कोठरी में ही जो कमोड रखा जाता था उसीमें बार-बार टट्टी जाना पड़ता था। सात दिन में मेरा तेईस पौण्ड वज़न घट गया। बवासीर की शिकायत पहले से थी ही। अब खून की टट्टियां और खून की उल्टियां होने लगीं। बाहर ऐसी खबर भी फैल गई कि मैं मर गई। किसी जीवित व्यक्ति के बारे में मौत की खबर फैलने को अच्छा ही माना जाता है और कहते हैं कि इससे उमर बढ़ जाती है। भगवान जाने, इसमें

सचाई कितनी है, पर आज मैं जीवित हूं यह तो सच ही है। मेरे मरने की खबर पहले-पहल किशोरलालभाई को ही लगी थी, पर जमनालालजी से कहते वे झिझकते रहे। बाद में तो सबको ही पता चल गया कि मैं जिन्दा हूं; पर मेरी हालत मरी-जैसी हो गई थी। मुझे जेल के अस्पताल में ले जाने के लिए स्ट्रेचर लाया गया। दुर्गाबाई जोशी ने कहा कि शाम के समय अस्पताल में कैसे ले जाने देंगे। वह बोलीं कि भगवान का नाम लेकर एक दवाई देती हूं। देखिये, रात-भर में कुछ हो गया तो अस्पताल से छुट्टी मिली समझें। उस समय मेरे पेट में अनार का रस तक टट्टी में निकल जाता था। फिर भी हिम्मत करके उन्होंने दवा दी। वह दवाई क्या थी ? एक चम्मच चावल तवे पर भूनकर कटोरी से उन्हें पीसा और पानी में पकाया। उस मांड में नमक और जीरा मिलाकर उसमें गाय के घी का बघार देकर मुझे चटा दिया। उससे मुझे काफी शांति मिली। पेट की दाह कम हो गई। वह मुझे स्वादिष्ट भी लगा।

इससे कुछ-कुछ तबीयत सुधरी और दही-छाछ के सेवन का प्रश्न आया। लेकिन अब कच्चे दूध में नींबू निचोड़कर दही बनाकर खाने के नाम से ही उल्टी होती थी। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कहा कि उनके यहां बच्चों के लिए गाय का दूध रहता है, अगर चाहें तो उसकी छाछ का जामन आप दे सकती हैं। पर मुझे लगा कि उसमें भैंस के दही का जामन लगता होगा। गाय की शुद्ध छाछ का जामन यहां कहां हो सकता है। शुद्ध जामन तो वर्धा से ही आ सकता था। बीमारी की खबर वर्धा देना भी अनुचित समझा कि सब लोग घबरा जायंगे। पर अब तो तार देकर जामन मंगाना पड़ा। एक हंडिया में मेरे लिए जामन आ गया और मुलाकात के लिए भी सब आये। एक महिला ने कहा—"दही की मुंगोड़ी तोड़कर सुखा दो। शीशी में भरकर रख दो। बस, जब जामन देना हो, दूध में एक मुंगोड़ी डाल दो। दही जम जायगा।"

जेल के अधिकारियों ने 'सी' क्लास की एक बहन को मेरे साथ रखने की अनुमति दे दी थी। मैंने मूलचन्दजी भैया की मां को अपने पास बुला लिया। इनकी सेवा और दुर्गाबाई जोशी के इलाज से ही मैं उस समय बच सकी। दोनों की सेवाओं को मैं कैसे भूल सकती हूं। भैयाजी की मां ने छह महीने

में 'सी', 'बी', 'ए' तीनों क्लासों का अनुभव ले लिया, जबकि मैं केवल 'ए' क्लास में रहकर भी बीमार रही।

जब बहुत तेज़ बुखार चढ़ा तो जेल के अधिकारियों ने दवा लेने के लिए कहा। मैंने मना कर दिया—लूंगी तो वैद्य की ही दवा, डाक्टर की दवा नहीं लूंगी। जेल में वैद्य की दवा की इजाजत नहीं थी, आखिर किसी तरह कुनैन लेने के लिए तैयार हुई। डाक्टर ने दो गोलियां एक साथ दीं। इसके पहले कभी डाक्टर की दवा ली नहीं थी। कुनैन की गरमी बरदाश्त के बाहर थी। मैं बेहोश हो गई। और तब एक अजीब-सा सपना देखा। मुझे लगा मेरा पलंग जमीन से ऊपर उठा और मैं सर्र्र्र् करते जेल की दीवार पर जा बैठी। दाहिनी ओर हरा-भरा सपाट मैदान पसरा पड़ा है। आमने-सामने से बड़े-बड़े जुलूस शांति से आ रहे हैं। एक ओर २॥-२॥ इंच के बालक स्वयंसेवकों की लाल पोशाक में एक कतार में उछलते-कूदते आ रहे हैं। हरे मैदान पर भी उतने ही बड़े बालक नाचते-गाते निकल रहे हैं। दूसरी तरफ मुड़ी तो क्या देखती हूं एक विवाह-मंडप सजा हुआ है और उसमें वर-वधू बैठे हुए हैं। एक वृक्ष के नीचे कई बच्चे गांधीजी के एक चित्र को बिछाये हुए उसके चारों तरफ बैठे हैं और कुछ बोल रहे हैं। मैं चित्र को बहुत ध्यान से देख रही थी कि मुझे लगा गांधीजी ने मुझे बुलाया। उसी क्षण सिनेमा के चित्र जैसे गांधीजी का चित्र कृष्ण भगवान का चित्र बन गया—बहुत ही सुंदर। योंही चित्र की ओर देख रही थी कि सुध आई—हाय राम ! मैं तो जेल के बाहर आ गई; लोग क्या कहेंगे ! अब अन्दर कैसे जाऊं ? चिन्ता से जी घबराने लगा। इतने में ही सामने मोतीबहन मिल गईं। बोली—अरे, तुम यहां ? शरम के मारे जुबान नहीं खुली। एक बच्ची गले से लिपट गई। मैं छुड़ाना चाहूं तो वह छोड़े ही न ! चुपके-से उस बच्ची को चिमटा लेकर छुड़ाया। रसिकभाई मिल गये मैंने जल्दी से उनसे पूछा—तुम्हारे घर में जेल की दीवार पर जाने की सीढ़ी है न, वह मुझे बता दो। उन्होंने कहा—चलो, मैं अभी बताता हूं। थोड़ी दूर गये कि वह तो वहीं गुम हो गये और मैं अकेली रह गई। कई और लोगों से भी पूछा, जेल पर जाने की सीढ़ी कहां है ? लेकिन किसीने नहीं बताई। बच्चे के खो जाने पर जो मां की दशा हो जाती है, वैसी ही दशा हो रही थी मेरी उस

समय। इतने में जेल में ११ बजे के घंटों की आवाज़ आई—तन में कुछ जागृति आई उससे। पीने के लिए ठंडा पानी मांगा। मेरे दांत चिपक-से रहे थे। फिर सिर पर पानी डाला। तब जाकर होश आया और देखा कि मैं जेल की खोली में ही हूं।

कुछ दिनों बाद खबर मिली कि बजाजवाड़ी, मगनवाड़ी और महिला-श्रम तीनों संस्थाएं जब्त हो गईं। तीनों जगह तीन पुलिस की लारियां गईं और वहां का सामान उठाकर ले गईं। मुझपर सरकार ने एक हजार का जुरमाना किया था। हमें वह देना नहीं था। अधिकारी जब्ती करके चाहे जो ले जायं। बजाजवाड़ी में रात को सब सोये हुए थे। मेरी ननद गुलाबबाई राजस्थान से आईं थीं। पुलिस ने सारा सामान जब्त करके मुहर लगा दी। बजाजवाड़ी की १२-१३ गायें भी जब्त हो गईं। पुलिस जब गायों का दूध बेचने हलवाइयों के पास गई तो उन्होंने जमनालालजी की गायों का दूध किसी भी भाव खरीदने से इनकार कर दिया। मुफ्त में भी वे दूध नहीं लेते थे। जबतक घास-चारा था तबतक तो गायों को मिलता रहा। बाद में बंद हो गया, पर पुलिस को क्या चिन्ता! बेचारी गाएं भी भूख के मारे सूख गईं। वे भी मानों जेल भोग रही थीं।

दुकान में बड़ी-बड़ी तिजोरियां थीं। उनको उठाकर ले जाना हँसी-खेल थोड़े ही था! दो-चार आदमियों के बस की बात नहीं थी। पुलिसवाले सुबह से शाम तक सिर पटककर हैरान हो गये। उन्हें तिजोरी उठाने के लिए कोई हमाल नहीं मिला। तिजोरियों को उठाने का भी एक तरीका होता है और यह काम हमाल लोग ही कर सकते हैं। हमालों ने साफ कह दिया कि हम जमनालालजी की तिजोरियां नहीं उठावेंगे। पुलिसवाले उनको दस रुपये रोज तक की मजदूरी देने को तैयार थे, परन्तु हमालों में भी उस समय चेतना उमड़ पड़ी थी और देश-हित के लिए उन्होंने सरकार का साथ देने से इनकार कर दिया। आखिर शाम को पुलिस के अनेक सिपाहियों ने मिल-कर किसी तरह तिजोरियां उठाईं। लेकिन इस काम में पुलिसवालों के अंगूठे पिचक गये, दरवाज़ों की चौखटें टूट गईं, फर्श फूट गया। जैसे-तैसे उन्होंने तिजोरियां बाहर पटकीं। पांच महीने तक तिजोरियां सरकार के कब्जे में रहीं। उनमें लोगों का, सम्बन्धियों का बहुत-सा जेवर पड़ा था। शादी-

ब्याह का मौसम था, गहनों की ज़रूरत थी, पर किया क्या जा सकता था ?

जमनालालजी की दूकानवालों को आज्ञा थी कि अगर सरकार जब्ती करके कुछ ले जाना चाहे तो सब लोग दूकान के बाहर हो जायं और किसी प्रकार भी उनके काम में दखल न दें। पुलिसवाले तिजोरियां ले तो गये, पर जब अधिकारियों को मालूम हुआ कि उनमें हज़ारों के जेवर हैं तब वे भी घबरा गये।

: २६ :

नया रत्न खोज निकाला

दूसरी लड़की मदालसा बचपन से ही आश्रम के वातावरण में रही थी। विनोबाजी के पास रहने के कारण उसमें अत्यन्त सादगी और श्रमशीलता आ गई थी। शहरी या घर-गृहस्थी के प्रपंच से भी वह दूर रही।

एक बार महिलाश्रम की लड़कियों के माथे में जुएं पड़ गईं। बापू ने कहा कि बाल निकाल दो, लेकिन लड़कियों के बाल कैसे काटे जायं? बापू ने कहा तो सही, पर तैयार कौन हो? लड़कियों के मां-बाप की इजाज़त चाहिए। लेकिन मैंने तो मदालसा को बापू के सामने कर दिया और कहा, "बापूजी, इसके बाल काट सकते हैं।" बापू को क्या था, उन्होंने मशीन ली और अपने कांपते हुए हाथों से चलाने लगे। पूरा मुंडन कनु गांधी ने किया।

मैं उसको लेकर बजाजवाड़ी आई। सामने ही कुरसी पर दादीजी बैठी थीं। मदालसा को इस तरह देखकर वे रोने लगीं। जमनालालजी को भी इससे रंज हुआ। वह धीमे-से बोले, "बाल काटने की क्या जरूरत थी?" पहले तो मैंने कह दिया कि क्या हुआ, कटा दिये तो? घास है, फिर उग आयगी। पर बाद में मुझे भी बुरा लगा कि ब्याह-योग्य लड़की के बाल कटाने की बजाय अपने कटाती तो विशेषता थी! पर मैं भी क्या करती? मदालसा तो शुरू से ही उदासीन मीरा-सरीखी थी। इन सब बातों के होते हुए भी वह निर्विकार ही रही।

मदालसा विनोबाजी के पास गोपुरी (नालवाड़ी) में रहती थी। आश्रम में छोटे-बड़े या गरीब-अमीर सब समान भाव से रहते थे। वह रोज सुबह चार बजे नालवाड़ी से घर पर नहाने आती। कब्ज के कारण वह चार बजे गरम पानी पीकर गोपुरी से आती थी। बंगले पर आकर नहाती,

कपड़े धोकर सुखाती और वापस नालवाड़ी लौट जाती। लौटते समय उसके एक हाथ में छाछ की हंडिया होती, उसीमें थोड़ा मक्खन रहता, एक हाथ में लकड़ी और लालटेन होती। थोड़ा-सा गोबर भी वह बंगले से ही ले जाती। गोबर तो नालवाड़ी में भी मिल सकता था, पर वह कहती थी कि इससे गरीबों को नुकसान होगा, कण्डे थापने में उनके लिए कमी हो जायगी। उसका चड्डी और कमीज पहने हुए आने-जाने का दृश्य देखकर लोगों को रोना आता था। आश्रम में नौकर रखने पर प्रतिबन्ध था, क्योंकि वहां हाथ से ही सारा काम करने का नियम था।

मदालसा का स्वास्थ्य बचपन से ही नाजुक रहा। हमारे यहां एक रसोइया ऐसा था, जो चोरी-छिपे उसको मीठी चीजें, चूरमा आदि खिलाता रहता था। उद्देश्य तो उसका यही था कि मदालसा का स्वास्थ्य सुधरे, पर मीठा आदि खाने से उसका खून और दांत खराब हो गये। खटाई और दही आदि से वह दूर ही रही। आखिर जब हमारा अलमोड़ा जाना हुआ तब उसे भी ले गये। अलमोड़ में मैं और मदालसा आठ महीने रहे। वहां उसको श्री रणजीत पंडित पढ़ाते थे। बीस पौंड उसका वजन बढ़ गया। इस तरह मदालसा का जीवन एकांगी बनता जा रहा था, परन्तु जमनालालजी को उसके भावी जीवन का विचार था और उसके लिए वह योग्य वर की तलाश में थे।

लखनऊ की कांग्रेस में श्रीमन्नारायणजी अग्रवाल पर जमनालालजी की निगाह पड़ी। श्रीमन्जी उस समय विलायत से लौटे थे। जमनालालजी ने सोचा कि इस लड़के को ध्यान में रखना है। वह श्रीमन्जी को वर्धा लाये। श्रीमन्जी काफी पढ़े-लिखे होने पर भी विनम्र थे। उनकी बुद्धि तेज थी। जिस काम को हाथ में लेते, उसे बड़े लगन से करने की आदत थी। जमनालालजी ने उनकी रुचि और योग्यता का काम उनको सौंपा। वे मारवाड़ी विद्यालय का काम देखने लगे। जमनालालजी में यही विशेषता थी कि वे अच्छे और होनहार युवकों से सम्बन्ध बढ़ाते और उनकी परख करके योग्य काम में लगाकर विश्वास का मौका देते। उन्होंने श्रीमन्जी को परख लिया था कि वे आगे चलकर अच्छे जिम्मेदार, और महत्वपूर्ण काम करने-वाले हो सकते हैं। श्रीमन्जी डेढ़ वर्ष तक वर्धा रहे। वे तो सबको पसन्द

आ गये। बापू ने भी कहा कि लड़का तो ठीक है। बापू और विनोबा की अनुमति मिल गई, पर मदालसा से बात कैसे की जाय? पूछा कैसे जाय? उसकी राय लेकर ही श्रीमन्‌जी से पूछा जा सकता था।

उस समय मदालसा सफेद कपड़ों में रहती थी और बाल भी कटे हुए थे। जब श्रीमन्‌जी से पूछा गया, तब उन्होंने मदालसा के इस वेश को देखकर कहा कि क्या यह इसी वेश में रहेगी? जमनालालजी ने हँसते हुए कहा कि शादी के बाद तो वह ढंग से ही रहेगी।

इस तरह श्रीमन्‌जी की मौन-स्वीकृति मिलने पर जमनालालजी मदालसा को लेकर मैनपुरी श्रीमन्‌जी का घर दिखाने ले गये। वहांपर श्रीमन्‌जी की मां, पिताजी तथा परिवार के लोगों के प्रेम, अतिथि-सत्कार आदि से मदालसा बहुत खुश हो गई। श्रीमन्‌जी की मां वहांके महिला-मण्डल की अध्यक्षा थीं। कविता से वहां इनका स्वागत किया गया। वे सब मदालसा की मन-भाती बातें थीं। यहांसे जमनालालजी मदालसा और श्रीमन्‌जी को साथ लेकर कलकत्ता कमलनयन के विवाह में पहुंचे। वहींपर जमनालालजी ने कमलनयन के फेरे होते ही मदालसा की सगाई का टीका कर दिया और सगाई के दस दिन बाद ही वर्धा में व्याह हुआ। उस समय बंगले पर कांग्रेस-कार्य-समिति की बैठक चल रही थी। देश के बड़े-बड़े मेहमान घर पर ही थे। इस तरह के मौके से अनायास लाभ उठाना जमनालालजी का स्वभाव ही था।

सुबह गांधी-चौक में सात बजे विवाह करना था। गांधी-चौक में ही हम रहते थे। तीन पीढ़ी में लड़की का व्याह घर पर करने का यह पहला मौका था।

सुबह दही और तेल लगाकर मैंने मदालसा को नहलाया और मण्डप में ले गई। उस समय उसकी हालत यह थी कि मानो सूली पर चढ़ाई जा रही हो। उसका लाल चेहरा जैसे फटा जा रहा था। फेरों के बाद उसने बापूजी को और बा को प्रणाम किया। उसने अपने ससुर को प्रणाम करके जैसे ही सास को प्रणाम किया, उन्होंने मदालसा को छाती से लगा लिया। इससे मदालसा को मानो आत्मीयता मिल गई। इस समय मदालसा के चेहरे और आंखों के भावों को पढ़कर कहा कि इसकी मां तो इसके लिए सास के

समान है मां तो इसने आज पाई है। मदालसा की ससुराल के लोग बड़े ही संस्कारी और भले स्वभाव के मिले। उसके जैसी भावना-प्रधान लड़की को तो उनके घर के प्रेम और सौजन्य-भरे वातावरण ने मोह लिया। मदालसा के लिए जो चिंता रहती थी, वह दूर हो गई। श्री लक्ष्मीनारायण मंदिर के दर्शन कर जब वर-वधू मण्डप में आये तब बापू ने श्रीमन्जी को संबोधन करते हुए कहा कि तुमको इस लड़की के अनुकूल बनकर ही चलना है, इसके विचारों पर किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए।

विवाह के समय अचानक तार आया कि श्री शारदादेवी बिड़ला, व्यंकटलाल पित्ती के साथ आ रही हैं। इस खबर से जमनालालजी का खुश होना स्वाभाविक था, पर उनको अचरज भी हुआ। मैंने कहा कि मैंने तो सहज ही एक पोस्टकार्ड डाल दिया था। विवाह में ज्यादा लोग बुलाना या ठाठ से ब्याह करना वे समाज के लिए अहितकर समझते थे। इसलिए अपने निकटस्थ मित्रों तथा आत्मीय जनों को भी आमन्त्रण देने में सकुचाते थे। आशीर्वाद की पत्रिका भर भेजते थे। पर मेहमानों का आना तो अच्छा लगता ही था। बिड़लाजी का बहुत पुराना सम्बन्ध था, इसलिए शारदादेवी के आने से हम सबको बहुत खुशी हुई।

शारदादेवी ने आते ही मुझसे पूछा कि मदालसा के लिए कुछ साड़ियां तैयार की हैं? वे जानती थीं कि ऐसे मामलों में मैं कितनी अव्यावहारिक हूं। मैंने कह दिया कि खादी-भण्डार तो घर में ही है। जो चाहेंगे सो ले लेंगे। शारदाबहन ने उलाहना दिया, "जानकीबहन, तुम मां हो, कल लड़की ससुराल जायगी तो चार साड़ी तो अच्छी तैयार करवानी थीं। मैं निरुत्तर हो गई। पर तुरन्त याद आया कि कलकत्ता में स्टेशन पर सावित्री को मां की दी हुई पेटी में खादी की कुछ साड़ियां हैं। मैंने कहा कि सावित्री से साड़ियां निकलवा ली जायं। उनमें से दो दादीजी को दे दी गईं, एक ननद, एक-एक भाभी और बड़ी दादी को। बचीं अब दो, वे मदालसा की पेटी में रख दी गईं। जब जमनालालजी को मालूम हुआ कि कलकत्तेवालों ने किसी भी तरह सात साड़ियां बांध ही दी हैं तो उनको बड़ा रंज हुआ और वे आपे से बाहर हो गये। उन्हें लगा कि जानकी के कारण मैं झूठा बना। पर मैं क्या करती, मुझे तो यहां आकर इसका पता लगा था।

: ३० :

मेरी कंजूसी

जमनालालजी की पत्नी होने के कारण देश में मेरा नाम भी बहुत-से लोग जानने लगे थे। मिश्री के साथ सूत भी मीठा हो जाता है और मिश्री के भाव बिकता है। लेकिन जिस कारण मेरी प्रसिद्धि रिश्तेदारों के बीच है, वह तो है कंजूसी। इस कंजूस-वृत्ति के कारण मेरा मज़ाक भी होता है। लोग परेशान भी होते हैं, उलाहना भी देते हैं; लेकिन जो स्वभाव बन गया है, उससे छुटकारा पाना भी मुश्किल ही है।

जब मैंने अपने पोते राहुल से पूछा कि बेटा, "बताओ तुम्हारे मन पर मेरी कौन-सी बात जमी है," तो उसने कहा, "आपके कंजूसपने की। जब दादाजी (जमनालालजी) गोपुरी में रहते थे और हम उनके पास जाते थे तब वह हमें ग्रामोद्योग का गोरसपाक देना चाहते थे, लेकिन आप रोक देती थीं।" तीन-चार वर्ष की अवस्था की वह बात अब भी उसको याद है।

मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा हो गया है कि छोटी-मोटी चीज़ों की सार-सम्हाल का मैं बहुत ध्यान रखती हूं। बड़ी चीज़ें बिसर जाती हैं, क्योंकि उन्हें तो कोई भी सम्हाल सकता है। सौ का नोट निकालकर देना मेरे लिए सरल है, लेकिन आना दो-आना देना मेरे लिए कठिन है।

बापू भी 'कंजूसों के सरदार' के रूप में प्रसिद्ध थे। लेकिन उनमें और मुझमें ज़मीन आसमान का अन्तर है। वह आये हुए लिफाफों का भी उपयोग करते थे, निमन्त्रण-पत्रिकाओं पर ही आशीर्वाद और संदेश लिखकर लौटा देते थे, एक-एक आलपीन को भी बचा लेते थे। परन्तु बापू अपनी कंजूसी को ऐसा बढ़िया रूप देते कि सामनेवाला भी संतुष्ट हो जाता और सबक सीखकर लौटता। मेरे पास तो उस कला की ही कमी है। तब होता यह है कि मेरी भावना एक होती है और सामनेवाले पर असर कुछ दूसरा

ही होता है। फिर भी इतना समाधान अवश्य है कि इतनी बड़ी दुनिया में कम-से-कम बापू ने तो मेरी कंजूसी की सराहना की थी। कंजूस की भाषा कंजूस ही समझ सकता है। उन्होंने तो मुझे सर्टिफिकेट भी दिया था।

बापू का एक ऊनी कम्बल छलनी-जैसा हो गया था। मैंने वह रफू करके और उसपर खादी सीकर उनके पास भेज दिया। लन्दन की गोलमेज परिषद् में जब वह गये तब वही कम्बल उनके पास था। उन्होंने २०-८-१९३२ को जेल से मुझे एक पत्र लिखा, जो इस प्रकार है :

चि० जानकी मैया,

खूब ! आखिर पेंसिल से दो सतरें लिखने की तकलीफ की तो ! जेल जाकर भी आखिर आलस्य नहीं गया न ? 'अ' वर्ग देने में ही भूल हुई। 'क' वर्ग देकर खूब काम कराना चाहिए था ! आलस्य का तो ठीक, परन्तु अब शरीर की हालत ठीक कर लेना। पत्र बराबर नहीं आयंगे तो सजा मिलेगी। पुरानी कमली, जिसपर तुमने खादी सीकर नई बनाई थी, वह राजमहल[१] में हो आई, यह बात मैं कह चुका हूं न ? यहां तो वह है ही। अभी तो बहुत चलेगी।

—बापू के आशीर्वाद

विनोबाजी भी बड़े सूक्ष्मदर्शी हैं। मेरी वृत्ति का रहस्य उनसे कहां छिपा रह सकता था ! एक बार मैं विनोबाजी के साथ सर्वोदय-प्रदर्शनी में जा रही थी। वहां पर पुराने वस्त्रों को फाड़-फाड़कर उनसे गलीचा बनाने का प्रयोग बताया जा रहा था। देखकर विनोबाजी ने कहा, "यह तो जानकीबाई की मन-लगती बात हो रही है।"

छोटी-छोटी चीजों को सम्हालने की वृत्ति को देखकर ही बापू ने मुझे सेवाग्राम में फल सम्हालने का काम सौंपा था।

जरूरत हो या न हो, कुछ ऐसी आदत हो गई है कि फल तो मैं खरीद

---

१. लन्दन में बापू उसी कमली को ओढ़कर पांचवें जार्ज से मिलने बकिंघम राजमहल में गये थे। उसका यह जिक्र है।

—संपादक

ही लेती हूं और सो भी टोकरी-भर ! पर खरीदते समय मोल-तोल करने का स्वभाव पड़ गया है। बापूजी कहा करते थे कि गरीब को आना-दो आना कम देने में क्या फायदा ! विनोबाजी भी कहते हैं कि गरीबों से भाव-ताव क्या करना, बल्कि जितना वे कहें, उससे कुछ अधिक ही देना चाहिए। गरीब लोग अपनी मेहनत की सही कीमत कहां कर पाते हैं, इसलिए हमें ही सोच-समझकर उनको वाजिब और कुछ अधिक दाम देना चाहिए। सर्वोदय का अर्थशास्त्र तो यही है। मेरे मन में तो ऐसा ही करने की भावना उठती है, पर आदत जो पड़ गई है !

टोकरी-भर फल लेने के बाद उनके उपयोग में वही कंजूसी ! जब सड़ने लगते हैं तब छांट-छांटकर सड़े-गले अलग करती हूं और अच्छे-अच्छे अलग रखती हूं, सड़े फलों का उपयोग करती-कराती रहती हूं। कमलनयन तो कहा करता है कि यह सड़ने का सिलसिला चलता ही रहेगा, क्योंकि सड़े-गले का आज उपयोग होगा, तबतक कल दूसरा सड़-गल जायगा !

हम लोग कश्मीर से अमरनाथ गये थे। किसी विश्राम-गृह में ठहरे। वहां दस्तखत करने थे। पेंसिल के लिए सभी एक-दूसरे का मुंह देखने लगे। आखिर मैंने अपने ऐनक के घर में से पेंसिल का छोटा-सा टुकड़ा निकाल दिया। लिख चुकने पर राम ने कहा कि मां की पेंसिल लौटा देना, वरना वह परेशान हो जायगी।

एक बार मैं विनोबाजी के साथ पैदल-यात्रा कर रही थी। किसीके पैर में कांटा चुभ गया। मैंने सुई निकालकर दे दी। वह टूट गई तो दूसरी दी। मैंने कहा, "वापस कर देना।" साथी को अचरज हुआ कि एक सुई के लिए मैं इतनी परेशान क्यों होती हूं। मुझे यह बात खटकी। जहां सुई का काम हो, वहां तलवार क्या कर सकती है ! आजकल छोटी-छोटी चीजों के प्रति उपेक्षा देखकर मन को बुरा लगता है।

कम खर्च में अगर काम चलता हो इससे बढ़कर क्या हो सकता है। मिट्टी से काम चलता है तो साबुन क्यों खर्च किया जाय ? मिट्टी से दांत साफ किये जा सकते है तो मंजन की जरूरत क्यों ?

एक बार में ऋषभदासजी के साथ बजाजवाड़ी जा रही थी। रास्ते में उनकी पत्नी ने कहा, "तांगा बुला लो।" पर ऋषभदासजी और मैं दोनों

एक ही स्वभाव के ठहरे। उनको वच्छराज-भवन जाना था। रास्ते में मैं और वह अलग-अलग हो गये। मैं थोड़ी ही दूर गई हूंगी कि रास्ता भूल गई। कई बार उस रास्ते बजाजवाड़ी गई हूंगी, पर उस दिन तो पता नहीं क्या हो गया! किसीसे पूछने की हिम्मत भी नहीं होती। मैं भले ही किसी-को पहचानती न होऊं, पर गांव के लोग तो मुझे पहचानते ही थे। मैं कैसे पूछूं कि बजाजवाड़ी का रास्ता किधर है। लोग क्या कहेंगे कि अच्छी सेठानी हैं कि बरसों से वर्धा में रहती हैं, पर अपने बंगले का रास्ता भी नहीं जानतीं! इधर-से-उधर चक्कर लगाती रही। आखिर एक लड़के से पूछा—"बेटा, ज्ञान-मंदिर का रास्ता कौन-सा है?" उसने सरल भाव से कह दिया—"बजाजवाड़ी के सामने ही तो है!" अब मैं क्या कहती! यह तो मैं भी जानती थी। आखिर उधर से एक तांगा निकला, जिसपर मैं चुपचाप बैठ गई और बजाजवाड़ी जाने पर उसने आठ आने मांगे तो दे दिये। ठहराकर लाती तो चार आने में ही आ जाता, परंतु मुझसे यह भी कैसे होता।

लेकिन जहां मैं एक पैसे का विचार करती हूं, वहां हजारों की बात छूट जाती है। बड़ी चीज मेरे लिए झंझट है। सीकर में जब हमारा कमरा बना तब वह बस्ती के बाहर था, लेकिन बस्ती बढ़ने के बाद बीच में आ गया। खुली हवा की कमी हो गई। नहाने और पाखाने की अड़चन थी। मारवाड़ में निबटने के लिए पुरुष लोग जंगल में जाते हैं और स्त्रियां नौहरों में ही बैठ जाती हैं। हमारे कमरे में संडास तो थी, फिर भी कमरे को व्यव-स्थित और सुभीते से रहने लायक बनाने के लिए ५०,०००रुपये का खर्च था। जमनालालजी ने सोचा कि इसको बेचकर शहर के बाहर सुभीते का मकान बनाया जाय। उन्होंने सीकर के अधिकारी से कहा कि बंगला लेकर स्टेशन के पास कोई जगह दे दी जाय। उसने बंगला लेकर अतिथि-गृह देने की बात कही। बंगला देकर ऊपर से १३,००० रुपये देने की बात थी। मैं उन दिनों वहीं थी। मुझसे अतिथि-गृह देखने के लिए कहा गया। मैं देखने गई। अतिथि-गृह के अहाते में बगीचा था और मकान भी बहुत बड़ा तथा सुभीते का था, पर मैंने सोचा कि इतना बड़ा मकान लेकर क्या करेंगे? कभी महीना-पन्द्रह रोज आकर रहेंगे तो रहेंगे; इसे सम्हालने के लिए ही पांच-सात नौकर रखने पड़ेंगे। इसलिए मैंने इन्कार कर दिया। अगर वह खरीद

लिया जाता तो सभीको सुविधा रहती, पर झंझट भी था।

सीकर के अतिथि-गृह की तरह बम्बई में भी एक मकान कर्ज में आ रहा था। मुझे वह देखने के लिए भेजा गया। उस मकान का ठाठ-बाट और फर्नीचर देखकर मैं तो मकान को अन्दर से देखे बिना ही लौट आई। मैंने यही सोचा कि अगर हम यहां रहेंगे तो बच्चों पर वातावरण का असर पड़ेगा ही और बम्बई में मकान होने पर रहने के लिए आने का मोह भी हो सकता है।

मेरे कम खर्चीले स्वभाव के कारण साथवालों को कभी-कभी बड़ी परेशानी हो जाती। एक बार स्टेशन जाना था, दोपहर का समय था। मेरे साथ ननदोई डेडराजजी भी थे। मुझे तो धूप में चलने की आदत थी, पर वह बहुत परेशान हो गये। स्टेशन पहुंचते-पहुंचते वह तो पसीने से तर हो गये। बोले—"आगे से सेठानीजी का साथ राम ही बचावे! बड़ी कंजूस हैं।" उनका गरम होना स्वाभाविक था।

और तो क्या, आज भी जमनालालजी सपने में मुझे कंजूसी का उलाहना देते दिखाई देते हैं। अभी-अभी की बात है कि उन्होंने मुझे स्वप्न में कहा कि देखो, मेहमान आये हैं, उन्हें अच्छे-अच्छे फल देना, उन्होंने यह कहा तो, फिर भी उनको मानो लग रहा था कि इससे यह होगा क्या ?

पर करूं क्या, 'ज्यां को पड्यो स्वभाव, जासी जीवसूं।"

: ३१ :

बापू वर्धा आये

जमनालालजी के मन में साबरमती की तरह वर्धा में भी सत्याग्रह-आश्रम खोलने की इच्छा थी। इस बारे में उन्होंने बापूजी से बात की। बापूजी ने विनोबाजी तथा उनके साथियों को वर्धा भेज दिया। पहले उन सबको बगीचे में उतारा गया, फिर वे बजाजवाड़ी में रहने लगे। आश्रम शुरू में बजाजवाड़ी में रहा, फिर, जहां आज महिलाश्रम है वहां चला गया। शुरू में जब बापू के साथ हम वर्धा आये तो बापू को तो कामर्स कालेज के कमरों में ठहरा दिया, लेकिन सवाल खड़ा हुआ कि हम कहां रहें ? वैसे तो आधा वर्धा शहर हमारा था, पर शहर में रहना हो नहीं सकता था। तब बजाजवाड़ी की खाली जमीन पर किराये के लिए जो मकान बनाये थे उसीमें हम लोग भी रहने लगे। यद्यपि जमनालालजी की आश्रम-सम्बन्धी इच्छा तो पूरी हो गई थी, तथापि इतनेसे ही उन्हें सन्तोष कैसे होता। कुछ दिनों बाद उन्होंने वर्ष-भर में एक महीना वर्धा में रहने का बापू से वचन लिया। उसके बाद बापूजी हर दिसम्बर में कांग्रेस जाने के पहले वर्धा आकर रहने लगे। जब बापूजी वर्धा रहते तब नेताओं और कार्यकर्ताओं का मेला-सा लगा रहता।

नमक-सत्याग्रह के बाद बापू ने प्रण किया कि आज़ादी मिलने पर ही साबरमती लौट सकते हैं। तब प्रश्न उठा कि अब बापू कहां रहें। बापू को तो सभी प्रांतवाले अपने यहां बुलाने को उत्सुक थे, पर गुजरातवाले और खासकर सरदार चाहते थे कि बापू गुजरात में ही रहें। उनका कार्यक्षेत्र भी प्रारम्भ में गुजरात ही रहा था। गुजरात के लोगों की उनपर अटूट भक्ति थी। उनके कार्यों और आंदोलनों को गुजरात ने शुरू से ही अपनाया था। इसलिए सरदार वल्लभभाई पटेल ने प्रयत्न किया कि बापू गुजरात में ही

रहें और बारडोली को अपना केन्द्र बनावें। पर जमनालालजी बापू को वर्धा लाना चाहते थे। यद्यपि महाराष्ट्र में गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुकूल वातावरण का अभाव था, फिर भी जमनालालजी के कारण उन्होंने वर्धा को पसन्द किया। जमनालालजी विनोबाजी, काका कालेलकर आदि को पहले से ही वर्धा ले आये थे। जगह-जगह से और भी गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ताओं को लाकर अनेक काम शुरू करवा दिये थे। धीरे-धीरे ऐसा वातावरण पैदा हुआ कि बापूजी ने वर्धा को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया।

सरदार वल्लभभाई को यह कैसे अच्छा लगता! यह स्वाभाविक भी था। वह हमेशा बापू से झगड़ते रहते और उलाहना देते रहते कि बम्बई और गुजरात छोड़कर इस गड्ढे में आकर बसे हैं, जहां राजनीतिक जागृति या उसका अनुकूल वातावरण जैसा कुछ है ही नहीं।

बापूजी को वर्धा में बसाने से जमनालालजी की मनभाती बात तो हो गई, लेकिन उनकी जिम्मेदारियां बहुत बढ़ गईं। बापू के विधायक काम ठीक तरह से चलें, इसलिए साधन और व्यक्तियों को जुटाना तथा आने-जानेवाले मेहमानों की अच्छी व्यवस्था रखना एक बड़ा सवाल था। परन्तु वह इस काम में जुट गये, 'अपने-आपको उन्होंने बापू में ही मिला दिया—वह बापू में ही लीन हो गये। गांधीजी को वहां बसाने पर ग्रामोद्योग के लिए जमनालालजी ने अपना बगीचा उनको सौंप दिया। बगीचा उस समय करीब एक लाख का होगा और गांव के लोग वहां नहाने-धोने और घूमने जाते थे। जब जमनालालजी ने यह बगीचा गांधीजी को सौंपने का निर्णय किया तब दूकानवाले सभी लोग नाराज हो गये और उनमें खलबली मच गई कि यह गांधी कहां से आ गया? इसे तो जमनालालजी अपना सबकुछ लुटा देंगे। उनके मन में जमनालालजी के हित का ही खयाल अधिक रहता था। वे गांधीजी तथा उनके कामों के महत्व को क्या जानें?

एक ओर तो यह बगीचा दिया, उधर तीसरे ही दिन ७५ हजार की ऐसी वसूली हुई, जिसके वसूल होने की आशा छोड़ दी थी। सेवाग्राम का नाम पहले सेगांव था। उसे रहन रखकर कर्ज दिया गया था। कर्जदार गांव का पटेल था। उसका देहांत हो गया। उसकी विधवा पत्नी थी, जिसपर कोई जोर-जबरदस्ती या दावा-फरियाद जमनालालजी क्या करते!

पर उस विधवा के मन में भगवान जागा और उसने जमनालालजी से कहा कि मेरे पति भी गये, मेरा भी क्या ठिकाना—इसलिए आप कर्ज में सेगांव लेकर मुझे मुक्त कीजिये।

यह घटना देखकर दूकानवाले दंग रह गये। कहने लगे—"जमनालालजी के भाग्य को कौन जान सकता है। एक हाथ से देते हैं और दूसरे से मिल जाता है।"

बगीचा सौंपने के बाद बापूजी ने जमनालालजी से कहा कि खादी के साथ-साथ ग्रामोद्योग भी चलाने होंगे। हमें गांवों को स्वावलम्बी बनाना है। इसलिए वहां ग्रामोद्योगों के प्रयोग शुरू करना तय हुआ। गांधीजी के एकनिष्ठ कार्यकर्ता और भतीजे श्री मगनलाल गांधी की मृत्यु बिहार में पहले हो गई थी। जमनालालजी को इसका काफी रंज हुआ था और वह मगनलाल की स्मृति में योग्य स्मारक बनाने की सोचते रहते थे। इसलिए उन्होंने उस बगीचे का नाम 'मगनवाड़ी' रखने की घोषणा की और वह बापू को भी पसन्द आ गई। ग्रामोद्योगों के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और कार्यकर्त्ता श्री जे० सी० कुमारप्पा को बापूजी ने यहां लाकर बैठाया-बसाया।

बापू को जगह-जगह से हाथ की बनी चीज़ों की भेंटें मिलती थीं, उनके लिए संग्रह योग्य-स्थान की जरूरत थी। इसलिए मगनवाड़ी में ही एक संग्रहालय बनाया गया, जिसका नाम भी 'मगन-संग्रहालय' रखा गया। उसमें गांधीजी को भेंट में मिली वस्तुओं के साथ-साथ खादी और ग्रामोद्योग की सारी सामग्री रखी गई। बापू भी आनेवालों से कहा करते कि मगन-संग्रहालय देखें।

उन दिनों बापू ग्राम-उद्योग और गांवों की सेवा वगैरा पर बहुत ज़ोर देते थे। इस कारण बापू ने वर्धा-जैसे छोटे शहर के बजाय गांव में रहने का तय किया। वे सेगांव रहने चले गये। बाद में उसका नाम सेवाग्राम पड़ गया। वहां मीराबहन की इच्छा से एक झोंपड़ी बनी थी। बापू के आग्रह के कारण कम खर्च में ही ज्यों-त्यों करके मिट्टी से एक झोंपड़ी बना ली। बाद में मीराबहन बापू को अपनी झोंपड़ी दिखाने ले गईं और बापू को पसंद आई तो बोलीं आप यहां रहिये। इसपर बापू ने कहा कि मुझे फिर दूसरे गांव जाकर झोंपड़ी बनानी पड़ेगी। इसपर सरदार और भी

चिढ़े कि पता नहीं यह मीरा सबको कहां-कहां ले जायगी ।

गांव में बापू को बड़ी असुविधा और कष्ट उठाना पड़ा। बापूजी के साथ एक हरिजन भी था। गांव के कुएं से औरों के साथ वह भी पानी भरता था। गांववालों ने उस कुएं का पानी पीना छोड़ दिया। दो साल तक बापू की हजामत बनाने में भी गांव का नाई डरता रहा। गांव के लोग कहते थे कि बापू की हजामत तो कर सकते हैं, पर उनके साथ हरिजन जो रहता है ! इसलिए हम अगर बापू को छुयेंगे तो जातिवाले बहिष्कार कर देंगे ।

बापू के सेगांव जाने पर तो सरदार और भी बिगड़ गये थे। उनका कहना था कि ऐसी जगह, जहां सड़क, तार-टेलीफोन, पोस्ट ऑफिस सभीकी असुविधा है वहां बापूजी का रहना कैसे हो सकता है। अगर कभी मौका आवे तो क्या कर सकते हैं और बापू कुछ करने भी देंगे ?

यह ठीक भी था। बापूजी से मिलने आनेवालों का अजीब तमाशा होता था। एक बार मैसूर की महारानी बापूजी से मिलने आईं। बैलों की टमटम गाड़ी सेवाग्राम गई। बारिश में कपड़े भीग गये। बापू ने सेवाग्राम में मीराबहन के कपड़े दिये। लौटते समय बैलगाड़ी कीचड़ में फंस गई, तब उन्हें उतरकर पैदल चलना पड़ा। ऊपर से बारिश हो रही थी। पैरों में ऊंची एड़ी के सैंडल थे, जो कीचड़ में वजनदार हो गये और चलना कठिन हो गया। महारानी गीले कपड़ों और कीचड़ में लथपथ वर्धा पहुंचीं। यहां आने पर गरम पानी में नमक डालकर सेंका गया। कपड़े बदले। वह कहने लगीं, "यदि यह घटना मैसूर में होती तो मैं पन्द्रह दिन बिछौने पर ही रहती, पर यहां तो मैं दूसरे ही दिन तैयार हो गई हूं।"

आखिर बापू की अनिच्छा रहते हुए भी सड़क बन गई, डाकखाना खुल गया और टेलीफोन भी लग गया। धीरे-धीरे मकान भी बने और सेवाग्राम के आश्रम का काम बढ़ता ही गया। बापूजी की पक्का मकान बनाने की मनाई थी, इसलिए उनके बिना पूछे ही जमनालालजी ने वर्धा से नागपुर के रास्ते पर थोड़ी दूर पवनार में टेकड़ी पर एक बंगला बनाया। उनका उद्देश्य यह था कि तैयार होने पर उन्हें वहां ले चलेंगे। बंगला तैयार हुआ और बापू को वहां दिखाने ले गये और जब वहां रहने की बात

कही तो बापू बोले—"नागपुर की सड़क होने से आना-जाना बना रहेगा और फिर वहां देहात में रहने का लाभ ही क्या।"

बापूजी के वर्धा आने पर यहां नेता और कार्यकर्ता आने-जाने लगे और उनका विशेष सम्पर्क बढ़ा। जब कोई नेता बीमार होता तो जमनालालजी उन्हें बुला लेते। किसीको किसी तरह की अड़चन होती तो उन्हें बुला लेते। सरहदी गांधी अब्दुल गफ्फारखां को सरहद प्रान्त में जाने की मनाही की गई तो जमनालालजी उन्हें अपने यहां आग्रहपूर्वक ले आये। दोनों खान-बन्धु, उनके लड़के-लड़कियां छः महीने यहां रहे। राजेन्द्रबाबू को भी जब कभी दमे की बीमारी उभड़ती, वे यहां रहने आ जाते। जमनालालजी को इससे प्रसन्नता होती कि उन्हें इस तरह अपने देशभक्तों को रखने का मौका मिलता है।

: ३२ :

सीकर और जयपुर

बजाज-कुटुम्ब राजस्थान में सीकर का रहनेवाला है। सीकर जयपुर-राज्य का एक बहुत बड़ा ठिकाना था। सीकर के राजा रावराजा कहलाते थे। उनके अधिकार भी जागीरदारों से अधिक थे। हम लोग यद्यपि वर्धा में बस गये थे, फिर भी सीकर आना-जाना रहता ही था और वहां हमारा एक मकान भी था, जो 'कमरा' के नाम से प्रसिद्ध था। वहां के सार्वजनिक कार्यों और हलचलों में भी जमनालालजी का हाथ रहता था। जमनालाल-जी की ओर से वहां एक दवाखाना और हरिजन-स्कूल भी चलता था।

सीकर की जलवायु सूखी और स्वास्थ्यप्रद होने के कारण कुछ दिनों के लिए श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू भी वहां एक-दो बार रहे हैं। विनोबाजी भी सीकर गये हैं।

सीकर के रावराजा भले स्वभाव के थे और प्रजा के साथ सहानुभूति रखते थे। उनके तथा जयपुर-राज्य के बीच आपसी अधिकारों को लेकर कुछ-न-कुछ चखचख चलती ही रहती थी। रावराजा के उदार स्वभाव को जयपुर-राज्य तथा अंगरेज अधिकारी कैसे पसन्द करते। इस तरह दिनोंदिन मनोमालिन्य बढ़ता ही गया। कहने के लिए तो राजा प्रजा के मालिक माने जाते थे, पर उन दिनों सच्ची सत्ता अंगरेजों के हाथों थी। राजकाज उनके रेजिडेंटों के इशारों पर चलता था। जमनालालजी कहा करते थे कि देशी राज्यों की प्रजा दोहेरी गुलाम होती है। देशी राज्यों की प्रजा में जाग्रति हो और राजा का प्रजा के साथ विशेष सम्पर्क बढ़े यह भी अंगरेजों को नापसंद था। इस कारण जयपुर राज्य और उसके प्रधान अंगरेज अधिका-रियों ने सीकर के रावराजा के साथ के झगड़े को बहुत बढ़ा दिया। सीकर के राजकुमार को शिक्षण के लिए विलायत भेजने के मामले को लेकर जय-

पुर राज्य के अधिकारियों ने रावराजा के कुटुम्बियों पर रेल में ही गोली चलवा दी। इस घटना से सीकर की प्रजा बहुत उत्तेजित हो गई और जयपुर-राज्य के खिलाफ शस्त्रों से लड़ने की तैयारी शुरू कर दी।

इधर जयपुर राज्य के अधिकारियों ने भी अपनी सेना भेजकर सीकर-वालों को सेना तथा शस्त्र से दबाने की तैयारी की। दोनों ओर से मोरचे-बन्दी होने लगी।

मैं उन दिनों सीकर ही थी। राजपूत, ब्राह्मण, हरिजन, बनिया, मुसलमान सभीने लड़ने की तैयारी कर ली थी। सीकर में अठारह दिन की जबरदस्त हड़ताल हुई। गांव में बहुत तीव्र उत्तेजना थी। मैं घर-घर में जाकर लोगों को समझाती थी कि भयभीत मत होओ।

कमरा के सामनेवाले मकान में स्त्रियां ही थीं। कमरा तथा राजकोठी के बीच मोरचा लग रहा था। रेती की थैलियां जमाई गईं। सिपाही बाहर से नसेनी लगाकर छत पर तार बांध रहे थे। मुझे ऐसा लगा कि शायद भीतर स्त्रियां डर रही होंगी, सो मैं भीतर गई और कहा—"आप लोग बिलकुल मत घबरायें। अगर सिपाही भीतर आ जायं तो आप बाहर तो निकल ही सकती हैं, मैं भी घूम ही रही हूं।" लेकिन औरतों को अज्ञान में रखने के कारण वे समझ ही कैसे पातीं कि किस समय क्या किया जाय। डर से रात को भयभीत हुए कई लोग अपना-अपना सामान बैल-गाड़ियों पर लादकर जाने लगे। मैंने उन्हें बहुत समझाया, पर डर के मारे वे चले ही गये। बहुत-से लोग मना करने से रह भी गये। दूसरे दिन जो लोग गये थे वे भी साहस करके, जो गति सबकी होगी वही हमारी होगी यह समझकर, लौट आये।

एक बार मैं लोसल से सीकर आ रही थी। जयपुर-राज्य के सिपाहियों को आदेश था कि अगर कोई आदमी बिना सूचना दिये सीकर जाय तो गोली चला दी जा सकती है। लेकिन मैं तो इस बात से अपरिचित थी और सीधी चली गई। सैनिकों ने भी शायद स्त्री समझकर मुझे चला जाने दिया होगा।

इस आपसी झगड़े को निपटाने के लिए जयपुर और सीकर दोनों के लोगों की तरफ से जमनालालजी के पास अनेक तार और चिट्ठियां आई थीं।

राजरावजी का संदेशा भी पहुंचा था। जमनालालजी ने दोनों पक्षों से यह जानना आवश्यक समझा कि अगर उनका उपयोग हो सके तो वे आवें, अन्यथा जाकर भी क्या होगा ? अन्त में उन्हें सीकर जाना पड़ा। एक बार तो जयपुर-राज्य और रावराजा में समझौता भी हो गया।

उसके बाद सीकर के रावराजा को अजमेर ले जाया गया और उन्हें 'पागल' ठहराकर सीकर राज्य की व्यवस्था 'कोर्ट ऑफ वार्ड' के मातहत कर दी गई। इसके अलावा रावराजा को जयपुर-राज्य में प्रवेश करने की भी मनाही कर दी गई। इस बात से सीकर की प्रजा में काफी उत्तेजना फैल गई। जमनालालजी ने इस मामले में काफी समय और शक्ति लगाकर शान्ति से इसे सुलझाने का प्रयत्न किया और इस तरह खून-खराबी रुकी।

जमनालालजी जयपुर-राज्य प्रजामण्डल के अध्यक्ष थे। जयपुर-राज्य को उनका, संस्था का और कार्यकर्ताओं का बढ़ता हुआ प्रभाव कैसे अच्छा लगता। भीतर-ही-भीतर नाराजगी बढ़ती जा रही थी। एक बार जमनालालजी प्रजामण्डल की कार्यकारिणी बैठक के लिए जयपुर जा रहे थे। वह बैठक अकाल-सहायता के सम्बन्ध में ही होनेवाली थी। परन्तु सवाई माधोपुर में ही पुलिस के गोरे अधिकारी ने उनके सामने हुक्म रख दिया कि उनके लिए जयपुर-राज्य में प्रवेश करना मना है।

जमनालालजी को यह बात बहुत खटकी। उन्होंने पुलिस-अधिकारियों से कहा कि यह बात अनुचित है। लेकिन इन्सपेक्टर-जनरल यंग ने कहा कि अभी तो आप मान जायं और वापस चले जायं, मैं यह हुक्म रद्द कराने की कोशिश करूंगा।

जमनालालजी सत्याग्रह के महत्व को समझते थे, इसलिए उन्होंने पहली बार मौका दिया कि अगर समझौते का कोई मार्ग निकलता है तो ठीक है। अतः वह लौट आये। वह सत्याग्रह बापूजी की आज्ञा लेकर शुरू करना चाहते थे। लेकिन जयपुर-राज्य के अधिकारियों ने जयपुर-राज्य में खादी-कार्य करनेवालों से आश्वासन मांगा कि वे प्रजा-मंडल से सम्बन्ध न रक्खें। इससे अधिकारियों की इच्छा साफ-साफ प्रजा-मंडल से झगड़ने की प्रकट हो गई। जमनालालजी की खुद की तैयारी तो जेल जाने की थी ही, लेकिन उन्हें इतने मात्र से ही सन्तोष थोड़े होनेवाला था। वह तो चाहते थे

कि सत्याग्रह बराबर चलता रहे। अतः इसकी उन्होंने पूरी तैयारी की। अन्त में बापू का आशीर्वाद लेकर उन्होंने १ फरवरी, १९३८ के दिन जयपुर-राज्य की आज्ञा का भंग करके राज्य की सीमा में प्रवेश कर दिया और इस तरह सत्याग्रह की शुरुआत हुई। पुलिस उनको पकड़कर मोटर द्वारा सीमा के बाहर छोड़ देती और वह पुनः भीतर प्रवेश कर जाते। जब दूसरी मोटर में से उतारने का आदेश दिया गया तब उन्होंने इस आदेश को अमान्य किया। जबरदस्ती उन्हें उतारा गया। उतरने की अनिच्छा के कारण, उतारते समय उनके खरोंच आ गई और कुरता भी फट गया। सत्याग्रही जमनालालजी के चित्र में नाक के पास की खरोंच और बनियान पर लगा खून का दाग स्पष्ट है।

इस तरह सीमा के बाहर छोड़ देने के कारण उन्होंने अन्न का त्याग कर दिया और केवल गाजर पर रहने लगे। तीसरी बार उन्हें गिरफ्तार करके जयपुर से चालीस मील दूर रखा गया। वहां वह बारह-बारह मील रोज घूमते थे। घी तो उन्होंने शरीर में चरबी की अधिकता के कारण छोड़ दिया था, मोटी रोटी और साग अपने लिए बनवा लेते थे। इस प्रकार के खाने से उनके मन को भले ही सन्तोष रहा हो, पर उसका शरीर पर परिणाम हुए बगैर कैसे रहता? रूखे-सूखे भोजन के कारण कमजोरी बढ़ गई। घूमते भी बहुत थे। अन्त में घुटने में दर्द बढ़ गया। इलाज कराया गया। पर इलाज के समय डाक्टर की गलती से बिजली से पैर जल गया। इलाज बिजली का चल रहा था। पर गलती से मांस जल गया, घाव हो गया। वे सब सहते रहे और डाक्टर भरोसे में रहा। डर के मारे डाक्टर फरार हो गया। पर उसी दिन ड्रेसिंग के समय उन्होंने अभय-दान दे दिया। उनकी प्रकृति ही कुछ ऐसी थी कि अपने दुःख-दर्द से वे हमेशा बेपरवाह रहते थे। डाक्टर स्वयं हैरान हो जाते थे। जितने कठोर वह अपना दुःख-दर्द सहने में थे, उतने ही नरम दूसरों के दर्द के प्रति थे। दूसरों का थोड़ा-सा दर्द भी असह्य होता था।

पैर में घाव होने के कारण उनको अब जयपुर के निकट रखना आवश्यक हो गया और उन्हें कर्णवतों के बाग में रखा गया।

जब वह मोरासागर में रहते तब आसपास के गांवों में घूमते और लोगों के सुख-दुःख की बातें ध्यानपूर्वक सुनते और जो कुछ उनसे बनता,

वह करते। वहां के लोगों को शेर के शिकार का अधिकार न होने से शेरों का बहुत उपद्रव था। शेर जानवरों तथा आदमियों तक को ले जाते। इस बारे में उन्होंने राज्याधिकारियों से लिखा-पढ़ी की। इसी तरह एक गांव में पानी का बहुत कष्ट था। उन्होंने कहा कि गांववाले मिलकर कुआं खोद लें। अपनी ओर से रुपयों का भी आश्वासन दिया।

इधर सत्याग्रह जोरों पर था। करीब पांचसौ स्त्री-पुरुषों ने इसमें भाग लिया। श्री हीरालाल शास्त्री, राधाकृष्ण बजाज तथा उनके साथियों ने बहुत परिश्रम किया। बापूजी तथा जमनालालजी की इच्छा थी कि संख्या की अपेक्षा इसमें चुने हुए सत्याग्रही भाग लें।

जमनालालजी के जाने के बाद बात कुछ ऐसी हुई कि एक बार मुझे भी प्रजामंडल की अध्यक्ष बनना पड़ा। प्रजामंडल के सदस्यों में कुछ मतभेद था। शास्त्रीजी मेरे पास आये और बोले कि कोई रास्ता बैठाना है। मैंने कहा, "अगर मेरे अध्यक्ष बन जाने से दोनों पक्षों को समाधान होता हो तो मैं बन जाऊं।" मैं अपनी शक्ति को पहचानती तो थी, पर उनकी भावना समझकर मैंने कहा, "मेरा उपयोग करना चाहो तो कर सकते हो।" उन्होंने मुझे अध्यक्ष बना दिया।

देशी राज्यों के सत्याग्रह के सम्बन्ध में बापूजी की वाइसराय से भी कुछ बातें हुई थीं। जब कहा गया कि आपस में समाधान हो जायगा, तो सत्याग्रह बन्द कर दिया गया। सत्याग्रही तथा जमनालालजी भी छूट गये। जयपुर-राज्य और प्रजामंडल में समझौता हो गया। प्रजामंडल की बातें स्वीकार कर ली गईं। जमनालालजी ने वहां बहुत दिनों तक रहकर कार्य की व्यवस्था जमाई।

इस सत्याग्रह में जमनालालजी को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। उनकी कसौटी ही हुई। उनका स्वास्थ्य पहले ही से नरम था, फिर जेल तथा घुटने की बीमारी और घाव से उनका स्वास्थ्य और भी गिर गया। लेकिन सारे कष्टों को सहकर भी उन्होंने आवेश या उत्तेजना को रोका और सत्याग्रह की भावना का पूरी तरह पालन किया। वे सदा संतुलित रहे।

: ३३ :

'सोती सुन्दरी'

ओम् हमारी तीसरी लड़की थी। लड़की होने से उसके प्रति जन्म से ही मेरे मन में लापरवाही रही। कमला बच्छराजजी के घर की प्रथम सन्तान थी, इसलिए उसके प्रति विशेष स्नेह था। मदालसा के और कमला के बीच कमलनयन हो गया था। सामने लड़का होने की वजह से इसका भी स्वागत हुआ। ओम् आनन्दी और खेलने-कूदनेवाली थी। उसका शरीर बचपन से ही अच्छा रहा। वह स्वस्थ थी।

ओम् थैली में लिपटी हुई जन्मी, जिसे मारवाड़ी में 'कुतेवड़ो' कहते हैं। थैली फोड़कर उसे मेरी सास ने निकाला। बोलीं—"ए बाई, कियां गुलाब का फूल-सी सोवणी लागे, छोरी तो भागवान है।" एक तरह से यह बात ठीक भी थी। उस साल कमाई बहुत हुई थी। जमनालालजी ने ओम् के जन्म की खुशी में कुटुम्बवालों तथा नौकरों को बीमा-कम्पनी के शेअर भी बांटे थे। उन्हें लड़कियां सदा से ही अच्छी लगती थीं।

बचपन से पूजा-पाठ और 'ओम्' का नियमित जाप करने की मेरी आदत थी। लेकिन जापे में पूजा-पाठ में अड़चन आने लगी। इस बात का मन में कुछ विचार रहता। सोचा कि इस लड़की का नाम ओम् रखा जाय तो 'ओम्' का जाप इस निमित्त से होता रहेगा। मैं उसे 'ओम्', 'ओम्' कहने लगी। यों उसका नाम ही ओम् पड़ गया।

मुझे बच्चों को मारने की आदत शायद नौकरों के कारण पड़ी। नौकरों की बेपरवाही के कारण मुझे गुस्सा आता। मैं उनपर चिढ़ती। पर चिढ़ने पर वह काम छोड़कर चले जायंगे, इस डर से गुस्से को दबाने की कोशिश करती, पर वह बच्चों पर उतरता।

मैं नौ बरस की उमर में घर में आई थी। बीस साल की उमर तक

घर में ऐसी रही कि कहां क्या हो रहा है, भगवान ही जाने ! सब काम नौकर-नौकरानियां करतीं। एक तो मैं परदे में रहती थी, दूसरे मैं पूजा-पाठ, सीना-पिरोना और पढ़ने-पढ़ाने में ही लगी रहती। मेरा नौकरों से काम ही कम पड़ता था। नौकरानियों से सम्बन्ध भी इतना ही था कि वे मेरा कुछ बंधा-बंधाया काम करतीं। मुझे कुछ कहने-सुनने का मौका ही कम आता। उन्हें पगार (वेतन) दूकान से ही मिलती। इस तरह मैं देने-लेने की बातों से अनजान ही रही। बच्चों के होने पर नौकरानियों से काम लेना पड़ा। डाक्टरनी ने कुछ ऐसे नियम बताये, जिनके अनुसार बच्चों का लालन-पालन करने में नौकरानियों को अड़चन पड़ती। डाक्टरनी शिकायत करती। ऐसे करना चाहिए। बार-बार शिकायत सुनकर मैं नौकरानियों से चिढ़ती। नौकरानियां आपस में कहतीं कि सेठानी ऐसा क्या समझती हैं जो हमसे कहती हैं, ऐसे करो, ऐसे मत करो—हम भी बच्चे पालना जानती हैं। जब वे झुंझलाकर जाने लगतीं तब डालूराम उन्हें समझाकर और कुछ अधिक लोभ देकर काम में लगाता। मैं तो लेना-देना जानती ही नहीं थी और उन-पर चिड़-चिड़ किया करती तब वे मेरी सुनें भी क्यों ? मुझे कहा जाता कि इनको प्रेम से निभाना चाहिए, वरना नौकरानियां टिकेंगी कैसे ! तब मेरा गुस्सा बच्चों पर निकलता। धीरे-धीरे मारने की आदत बढ़ गई और उसका सबसे ज्यादा शिकार बनी ओम्।

रामकृष्ण के जन्म की बात है। मैं जापे में थी। ओम् तो खेल में ही मस्त रहती थी। मैंने उसे किसी काम से बुलाया, उसने अनसुनी कर दी; जब आई तब मैंने इतने जोर से उसे मारा कि तपेली पिचक गई और मेरे हाथ को ऐसा झटका लगा कि उसका दर्द कई दिनों तक रहा। ठंड के दिनों में वह दर्द होता ही रहता। वर्षों तक मुझे मेरी ननद ने हलदी खिलाई, तब कहीं वह टूटा।

साबरमती-आश्रम में रहते थे, तबकी बात है। ओम् के फोड़े और फुंसियां हो गई थीं। मैं उसे नहला रही थी। फोड़े धोते समय वह रोई। मैंने उसे चुप होने के लिए कहा और फोड़े धोती रही, तो वह और जोर-जोर से रोने लगी। मुझे गुस्सा आ गया। नहलाने का जो गिलास था उसीको सिर में दे मारा। चोट आई और खून बहने लगा। मैंने चोट धोकर पट्टी

बांध दी। पट्टी भी खून से लाल हो गई। पर मेरे हाथ से छूटकर ओम् भागी और फिर खेलने चली गई। मैं डरी भी और मुझे रोना भी आया। जमनालालजी को इस तरह मारना-पीटना कैसे सहन होता? वह वापूजी के पास गये और बोले, "जानकीदेवी की बच्चों को मारने की आदत कैसे छूटे? उसने आज ओम् को मारा।" वापूजी ने उपवास करने को कहा। उन्होंने उपवास भी किया। उसका परिणाम मुझपर हुआ भी, पर आदत तो छूटी नहीं।

ओम् मेरे मारने या गुस्सा होने पर भी वैसी ही रही। एक बार तो उसने मुझपर नाराज होकर तीन दिन तक कुछ खाया-पिया ही नहीं। उन दिनों वजाजवाड़ी में मीटिंगों की धूम थी। एक के बाद एक मेहमानों की पंगतें लगतीं और उठतीं। बच्चों के खाने-पीने की देखभाल रह जाती थी। लेकिन जब पता चला कि तीन दिन से ओम् ने खाना-पीना छोड़ रखा है, तो मुझे डर लगा कि जमनालालजी को पता चलेगा तो अनर्थ हो जायगा। तब ओम् को खाना खाने को राजी करने लगी। वह पक्की हठीली थी। लेकिन जब उससे कहा कि उसके काकाजी को पता चलेगा और उनके मन को बड़ी तकलीफ होगी तो यह दलील काम कर गई और ओम् ने खाना खा लिया। बच्चों में हमेशा यह भावना रही कि उनके काकाजी किसी भी तरह के कष्टों से बचें। तीन दिन से भूखी-प्यासी थी, पर मजाल क्या कि चेहरे या रहन-सहन से कोई ताड़ सके। जमनालालजी की इच्छा थी कि बच्चे संस्कारी और व्यवस्थित बनें। उनमें समय की पावन्दी आवे। घर पर रहकर यह होना कठिन लगा। सावरमती रखने में यह भी एक उद्देश्य था कि बच्चे वातावरण से तथा दूसरों के बच्चों से सीखें। दूसरों के बच्चे तो घंटी होने के पहले ही नहा-धोकर तैयार रहते और कक्षा में या प्रार्थना में साफ-सुथरे पहुंचते। हमारे तो जैसे रहते वैसे ही पहुंचते। इसलिए उन्हें लगा कि छात्रावास में बच्चों को रखने से उनमें व्यवस्थितता आयगी और सबके साथ रहने की आदत पड़ेगी। इसलिए उन्होंने मदालसा और ओम् को 'शारदा-मन्दिर' में रखने का निश्चय किया। मैंने बच्चों की तैयारी की और कपड़े-सामान तथा उन्हें लेकर शारदा-मन्दिर गई। मदालसा तो मोटर में खुशी से आश्रम में गई, पर ओम् मोटर पकड़े रही। बड़ी मुश्किल से दो-

तीन शिक्षिकाओं की मदद से उतारा और मैं मोटर लेकर वापस आई। उधर ओम् ने ऐसा ऊधम मचाया कि शिक्षिकाएं उसे वापस लेकर आईं। कुछ दिनों बाद समझा-बुझाकर बड़ी मुश्किल से उसे शारदा-मन्दिर में वापस भिजवाया जा सका।

भले ही मैं उसपर गुस्सा होती या मारती, फिर भी मैं उसे अपने पास ही रखना चाहती थी। पर जमनालालजी को उसकी पढ़ाई की चिन्ता रहा करती। जमनालालजी तथा बापूजी ने जेल से चिट्ठी लिखकर महिला-आश्रम में भेजने की सलाह दी। दूसरे दिन सवेरे की प्रार्थना के बाद उसे भेजना तय हुआ। रात को मैं बेचैन रही। कमलनयन और मदालसा तो आश्रम में थे ही, अब यह भी चली जायगी, यह सोचकर रोना आता था। मैं जब जोर से रोने लगी तब कमला ने आकर कहा—"मां, तू क्यों रोवे हे ?" मैं बोली—"बाई, ओम् ने भायो कन्याश्रम में भेजे हे, जिस्यूं मनें रोवणो आवे हे।" तब कमला ने जाकर ओम् का कन्याश्रम जाना रुकवाया।

मेरा ओम् को मारना दादीजी (मेरी सास) को असह्य था। मेरे गुस्सा होते ही वह रोने लग जातीं।

बापूजी और जमनालालजी के जेल से छूटने पर बापूजी के हरिजन-दौरे की बात चली। सेठजी ने मुझसे पूछा कि ओम् को हरिजन-दौरे में बापूजी के साथ भेजा जाय तो कैसा रहे ? मैंने कहा, बहुत अच्छा। मैं उसे बापूजी के साथ भेजने के लिए राजी हो गई, पर जमनालालजी को बापूजी से कहने में संकोच हो रहा था। बापूजी का दल छोटे-से-छोटा हो, ऐसा वह प्रयत्न कर रहे थे, लेकिन बापूजी के साथ जाने से उसका हित होगा, इसलिए वह बहुत संकोच के साथ बापूजी से बोले, "बापूजी, ओम् को साथ ले जाने में आपपर भार तो होगा ही, पर उसे लाभ होगा।" यह सुन बापूजी बोले, "भले, एनो शो भार थवानो, ए तो रमकडूं छे।" (कोई हर्ज नहीं। उसका भी कोई भार होगा। वह तो खिलौना है !)

एक वर्ष तक ओम् बापूजी के साथ रही। बापूजी ने उससे काम भी लिया और काम लेते-लेते उसे सिखाते भी रहते। उसे बहुत सीखने को मिला। बापूजी ने दौरे से जो पत्र लिखे थे, उसमें उन्होंने ओम् के आनन्दी

और मस्त स्वभाव के बारे में लिखा था। वह काम हँसते-हँसते करती, पर खाने-पीने या रहने-करने की शिकायत के बारे में चुप ही रहती। बेफिक्र तो इतनी थी कि जहां भी सोने को मिलता, झट सो जाती। मोटर में बापूजी के पैरों के पास ही उनका सहारा लेकर सो जाती। बापूजी इसी कारण उसे 'सोती सुन्दरी' कहते थे। उसका वजन भी काफी अधिक था। यात्रा से काफी मोटी होकर लौटी। इसी दौरे में बापूजी पर पूना में बम फेंका गया था। ओम् भी साथ में थी। बापूजी और ओम् आदि साथ के लोग बच गये। बापूजी 'सोती सुन्दरी' के सिवा ओम् को 'पण्डिता' भी कहते। पण्डिता से उनका मतलब था दूसरे को उपदेश देने में कुशल। उसने बापूजी को अपना स्वास्थ्य अच्छा रखने के विषय में एक उपदेश-भरा पत्र लिखा था। उत्तर में बापूजी ने उसे पण्डिता की पदवी दी थी।

एक बार बच्छराज कम्पनी के डायरेक्टर ने कपड़े की मिल लेने की सूचना दी। उनके आग्रह से जमनालालजी के मन में यह विचार आया कि ऐसी एक आदर्श मिल चलाई जाय, जिसमें मजदूरों को सब तरह की सहूलियतें हों। मुझे और बच्चों को इस बात से आश्चर्य हुआ। बापूजी के पास हम लोग गये। मैंने बापूजी से कहा, "जमनालालजी यह बला किसलिए ले रहे हैं?" ओम् बोलने में कुछ ढीठ होने से बोली—"हम बाहर तो खादी के लिए प्रचार करते हैं, पर जब मिल होगी तो लोगों पर क्या असर होगा? आपको कांग्रेस के लिए पैसे चाहिए, इसलिए काकाजी को मिल लेने के लिए प्रेरित कर रहे हैं।" बापूजी ने जमनालालजी को पत्र लिखा कि मिल का विचार छोड़ देना ही ठीक है। पर जमनालालजी ने पत्र पहुंचने के पहले ही इरादा बदल दिया था। उनके सामने खादी का विचार था। उन दिनों बहुत सस्ते में मिलें मिल रही थीं और उनमें कमाई भी लाखों की थी।

ओम् को बापूजी की सलाह से पहले मद्रास में कुमारप्पाजी की बहन की संस्था में और उसके बाद मिसेस कज़िन्स की संस्था में मदनापल्ली पढ़ने के लिए भेजा। मद्रास में जमनालालजी ने अंबुजम्मा को ओम् का स्थानीय पालक बनाया था। बापूजी ने आशा रखी थी कि वह वहां अंगरेजी, संगीत आदि सीखेगी तथा संस्कृत उच्चारण अच्छे होंगे। जब वह मद्रास जाने लगी थी तब मैंने उसके साथ बहुत सामान बांध दिया था, काफी तैयारी की थी.

तब जमनालालजी ने हँसते हुए कहा था कि जब घर रहती है तब तो गुस्सा होती है, मारती है और जब बाहर जाती है तब सारा प्रेम उमड़ पड़ता है। ओम् की इच्छा से उसकी सहेली को भी इतनी दूर भेज दिया। इस तरह लड़कियों के मन की इच्छा पूरी करके जमनालालजी बच्चों को लाड़ से बिगाड़ते भी थे।

जयपुर-सत्याग्रह के समय जमनालालजी का आगरे में राजनारायणजी के कुटुम्ब से सम्बन्ध आया। घर के लोग भले और संस्कारी लगे। फिर जब राजनारायणजी के पिता स्वास्थ्य के लिए जुहू रहे तब जमनालालजी भी वहीं थे। उनसे अधिक सम्पर्क बढ़ा। बच्चों से भी उनका अधिक सम्पर्क आया। फिर जमनालालजी का विचार उस घर में से लड़का या लड़की लाने का हुआ।

जमनालालजी में आदमी को परखने की बहुत बड़ी शक्ति थी। यही कारण है कि उन्होंने लड़के-लड़कियों के ऐसे सम्बन्ध जोड़े कि उनका जीवन सुखी बन सका। जब ओम् का संबंध राजनारायणजी से हुआ तब उनका खादी के प्रति झुकाव कम था, लेकिन बातचीत से जमनालालजी ने जान लिया कि वह राष्ट्रीय विचार के हैं और गांधीजी की अच्छी बातों को अपना लेंगे। हुआ भी वैसा ही। वह अपने-आप खादी पहनने लगे और उनके घर में अधिकतर खादी का ही उपयोग होता है। बच्चों तक को खादी पहनाते हैं। दुर्व्यसन से तो तीनों जंवाई दूर हैं। यह सब भगवान् की ही कृपा समझनी चाहिए।

जमनालालजी आगरे से विवाह का निश्चय करके लौटे। वह जिस दिन आये उस दिन से सातवें दिन विवाह था। पर जमनालालजी ने सावित्री और राम को व्यवस्था का काम सौंपा। मैं टाइफाइड से बीमार थी और मदालसा के घर थी। मैं तो सिर्फ फेरे के समय ही आई। विवाह की सारी तैयारी सावित्री और रामकृष्ण ने ही की। कपड़े-सामान से लगाकर खाने-पीने तक की व्यवस्था करनी थी। मिठाइयों के नाम खोज-खोजकर एक लम्बी फेहरिस्त बनाकर सावित्री जमनालालजी के पास पहुंची। उन्होंने कहा कि इसमेंसे जो अच्छी लगे, वही एक मिठाई चुन लो और बनवाओ। उसकी उमंग मन-ही-मन रह गई, लेकिन उसने उनके कहने के अनुसार एक ही

मिठाई में सन्तोष माना।

ओम् की विदाई के समय जमनालालजी की भी आंखें गीली हो गईं थीं। कमला की शादी के समय उनपर क्या असर हुआ, यह तो वह ही जानें। मदालसा तो वर्धा रहनेवाली थी, इसलिए उसकी विदाई का तो सवाल ही क्या था, पर ओम् के लिए उनके-जैसे धीरे-गम्भीर व्यक्ति भी द्रवित हो गये। वेटी की विदाई सभीकी भावना को कोमल वना देती है।

जव ओम् और राजनारायणजी नैनीताल थे, तव जमनालालजी वहां गये। उन्हें राजनारायणजी और ओम् का परस्पर प्रेम देखकर वहुत सन्तोष हुआ। लौटने पर जमनालालजी ने मुझसे कहा कि देखो, "अव ओम् आये तो खयाल रखना, उसपर गुस्सा मत वरसाना। राजनारायण उसे वहुत चाहता है, तुम्हारा कहना-सुनना उसे वुरा लगेगा।"

ओम् डेढ़-दो महीने से वर्धा ही थी। राजनारायणजी उसे लेने वर्धा आये। कुछ दिन रहकर दोनों वम्वई गये। वहां से वे सीधे अपने कार्यक्रम के अनुसार नैनीताल जानेवाले थे, पर मन उचटा-सा रहा। उसने वापस वर्धा जाने की ज़िद की, मानो वर्धा उसे वुला रहा हो। सामान खरीदना छोड़कर वर्धा पहुंचे। राजनारायणजी साथ थे। वे दोनों जमनालालजी की मृत्यु के दिन सवेरे आठ वजे ही वर्धा पहुंचे।

जमनालालजी के जाने से आघात तो सवको लगा, पर कुटुम्बवालों पर स्वाभाविक तौर से अधिक ही लगा था। सव घरवालों के मन में यह भाव था कि हम उनके काम को करके उनकी आत्मा को सन्तोष दें। सावित्री जव 'करेंगे या मरेंगे' आन्दोलन में जेल जाने लगी तव राजनारायणजी ने भी ओम् को इजाजत दे दी। ननद-भौजाई को जेल जाते देखकर महिलाश्रम की लड़कियों को और भी उत्साह मिला। और दस-दस की टुकड़ी में करीव ८० वहनें जेल पहुंच गईं।

: ३४ :

आखिरी सन्तान

रामकृष्ण आखिरी संतान है। वह बचपन में बड़ा स्वस्थ और शान्त था। रोता भी कम था। एक बार बचपन में उसकी उंगली दरवाजे में दब गई और टुकड़ा कटकर गिर गया। उसे उठाकर वह दादीजी के पास गया और बोला, "देखो दादीजी, मेरी एक आंगली की दो आंगली होगी।" दादीजी ने उंगली के दो टुकड़े देखे तो वह रोने लगीं। यह देखकर वह भी रोने लगा। पहले तो उसे भान ही नहीं था।

बड़ों के सामने वह सीधा और आज्ञाकारी था, पर बराबरीवालों से सदा हंसी-मजाक किया करता। उसका यह स्वभाव आज भी है।

पढ़ना-लिखना राम का बहुत देरी से शुरू हुआ। पहले तो ठीक सिल-सिला जमता भी कैसे। बापूजी ने जबतक स्कूल-कालिजों के बहिष्कार पर जोर रखा था तबतक बच्चे स्कूल-कालेजों में जाते भी कैसे। घर पर या आश्रम में जो पढ़ाई होती वही होती। लेकिन जब नवभारत विद्यालय बापूजी की सलाह से वर्धा में चलने लगा तब फिर राम वहां जाने लगा। पढ़ाई देरी से शुरू होने पर भी सोलह साल की उमर में वह मैट्रिक पास हो गया।

चौदह साल तक हममें से सभी सिनेमा से दूर रहे। मिठाई न तो घर पर ही बनती थी और न बाहर ही खाई जाती। कुंआरे लड़के-लड़कियों को शादी में जाना भी बंद था। एक बार मेरी बड़ी भाभी आई तो मोतीचूर के लड्डू लाई होंगी। उन्हें देखकर राम बोला, "मामीजी, इसे क्या कहते हैं?" वह बोलीं, "मोतीचूर के लड्डू।" बस, इतना सुनकर, वह तो खेलने दौड़ गया। पर यह देखकर मेरी भाभी को रोना आ गया। वह बोलीं, "तुम्हारे इतने बड़े घर में बच्चे कैसे तरसते हैं। बाईजी, मैं तो अभी लड्डू

बनवा देती, लेकिन आपके घर में तो ऐसी चीजें बनाने का हुक्म ही नहीं है।"

मेरी अनुपस्थिति में ओम् ने लड्डू खाया और मेरी भाभी से कहा—"मामाजी, मां से कहना मत, पर मेरे लिए लड्डू ज़रूर भेजना।"

मेरी भाभी ने इंदौर जाकर पारसल भेजा। पारसल को खोला और देखा कि उसमें लड्डू हैं। तब विचार हुआ कि ये आये कहां से ?

ओम् दौड़कर दादीजी से धीरे-धीरे बोली— "दादीजी, ये तो मामीजी ने मेरे कहने से भेजे हैं।" तब जाकर पता चला कि यह सब ओम् की करामात है। सादगी का यह सिलसिला १९३४ तक चला। बाद में कुछ कम होता गया।

जब रामकृष्ण वर्धा में पढ़ता था तब उसने और उसके साथियों ने 'घनचक्कर-क्लब' चला रखा था, जिसमें सब बच्चे खेलते-कूदते थे। साथ-साथ देहातों में प्रौढ़-शिक्षण और चरखे का भी काम करते। इस क्लब में कभी-कभी बड़े-बड़े भी खेलते थे।

घनचक्कर-क्लब के लड़कों के साथ राम भाई का सा व्यवहार करता; लेकिन मुझे उससे चिढ़ आती। लड़के कहते, धनवानों का धन और अपनी अक्ल लगाकर देश का काम करेंगे। मुझे यह छोटे-मुंह बड़ी बात लगती। मैं उनसे तो क्या कहती, पर अपने बच्चों से कहा करती कि तुम इन घनचक्करवालों के साथ घनचक्कर बन जाओगे। मुझे घनचक्कर-क्लब के लड़कों पर इसलिए भी चिढ़ होती थी कि उनके मारे राम का शांति से बैठकर खा-पी सकना भी मुश्किल था। जब देखो तब साथ।

व्यक्तिगत सत्याग्रह चला और जमनालालजी जेल जाने लगे तो राम ने उनसे कहा कि परीक्षा के बाद मेरा भी सत्याग्रह करने का इरादा है। समय थोड़ा था, ज्यादा बात तो क्या होती, पर वह इतना ही बोले कि बापूजी की सलाह से जो कुछ करना हो, करना। तीन-चार महीने बाद परीक्षा हो जाने पर राम बापू के पास पहुंचा। उस समय उसकी उमर सोलह साल की थी। बापूजी बोले—"सत्याग्रह के लिए अभी छोटे हो।" जब वह आग्रह करने लगा तो बापूजी ने उसे तीन-चार दिन तक अपने पास रखकर उसकी जांच-पड़ताल की। उससे कहा कि जबतक यह सत्याग्रह चलेगा तब

तक तुमको बार-बार जाना पड़ेगा। तुम्हारी तैयारी रहनी चाहिए। वह बोला—"आखिर कितने दिन तक जेल जाते रहना पड़ेगा ?" वह बोले—"कम-से-कम पांच वर्ष तो मान ही लेना चाहिए। मेरी पांच साल की तैयारी है।" कुटुम्ब के बहुत-से लोग और मैं जेल जाकर आई थी। इसलिए जेल का अनुभव था। मेरा मन राम को जेल भेजने से रोकता था, इसलिए मैंने बापूजी को इशारा किया कि इसे रोकना ठीक रहेगा। लेकिन वह अपने विचार पर पक्का रहा और बापूजी को इजाजत देनी पड़ी।

उसने सत्याग्रह किया तो पहली बार सौ रुपये जुरमाना हुआ। फिर दूसरी बार किया तो दोसौ। तीसरी बार चार महीने की सजा हुई। सजा पूरी कर शनिवार को आया। सत्याग्रही को दस रोज में वापस जाने का आदेश था, लेकिन उसकी तो फिर से तुरन्त जाने की तैयारी थी। दूसरे दिन रविवार आ गया, इसलिए रुकना पड़ा। उसने सोमवार को फिर सत्याग्रह किया और छह महीने की सजा हुई। जब सत्याग्रह स्थगित हुआ तब वह विनोबाजी के साथ छूटा।

जेल जाने से पहले वह मैट्रिक पास हो गया था। जेल से छूटने पर उसने पढ़ाई शुरू की। लिखा-पढ़ी के बाद कालेज में भरती हो सका। कालेज का सत्र तो बहुत पहले शुरू हो गया था, परीक्षा के लिए बहुत थोड़े दिन बाकी रह गये थे। इसलिए बड़ी मुश्किल से इजाजत मिली। परीक्षा दी और पास हो गया। इसी अवधि में उसके पिताजी का स्वर्गवास हो गया। ऐसे समय में चित्त को स्वस्थ रखकर पढ़ाई करना कठिन था। पर उसकी तो सदा से यही आदत रही है कि जो काम सौंप दिया जाय उसीमें वह लग जाता है। जमनालालजी की मृत्यु के दूसरे दिन भी उसे मैंने कालेज भेजा। यह बात दूसरी थी कि उनकी मृत्यु के कारण कालेज बन्द रहने से उसे लौट आना पड़ा।

उसके काकाजी की मृत्यु के बाद कुटुम्बवालों ने अपने बाल दिये। गंगाविशनजी, राधाकृष्ण आदि कुटुम्बवालों ने मुंडन करवाया, तब राम को भी कहा गया। वह बोला—"बाल देने में क्या पड़ा है ! पिताजी के लिए हम जितना करें, थोड़ा ही है।" उसने सिर नहीं मुंडवाया। उधर कमलनयन गोला गोकर्णनाथ में था। उसने भी मुंडन नहीं करवाया। कमलनयन

जब वर्धा आया तब उसने मुझसे कहा कि बाल देने से तुझे अच्छा लगता हो तो दे दूं। पर मैंने भी देखा इसमें क्या धरा है। देखा जाय तो दोनों भाइयों के विचार में कितना साम्य था। राम वर्धा था और कमल गोला। पर दोनों के विचार एक-से थे कि इतनी तुच्छ वस्तु हम पिताजी को क्या अर्पण करें! यों बच्चों के लिए यह पहली ही मौत थी और इस तरह की पहले कोई चर्चा ही कब उठी थी। फिर कमलनयन ने यह भी कहा कि पिताजी के दुःख को मनहूस चेहरा बनाकर क्या प्रकट करना! जो दुःख हुआ उसका दिखावा थोड़े करना है। राम भी तीसरे दिन घनचक्कर-क्लब में खेलने चला गया। बच्चों ने इस दुःख को बड़े धीरज से बरदाश्त किया और अपने पिता के लिए जो श्रद्धा थी वह उन्होंने उनकी इच्छा की पूर्ति में ही समझी। सब घरवाले गम्भीर थे, लेकिन रोना-धोना न देखकर मारवाड़ से आये हुए लोग अचरज करते थे।

फिर से जुलाई में गर्मियों की छुट्टी के बाद कालेज शुरू हुआ। लेकिन अगस्त में जब 'करो या मरो' आन्दोलन शुरू हुआ तब राम फिर जेल गया। १९४४ में छूटा। जेल में वह अपने साथियों से हिलमिल गया। जेल से छूटकर आनेवाले उसके विषय में प्रेम और आत्मीयता प्रकट करते। अपने साथियों के सुख-दुःख का वह खयाल रखता था। उनको किसी चीज-बस्त की जरूरत होती तो अपने पास से दे देता या घर से मंगवा देता।

उसने जेल में खेल-कूद, पढ़ने-लिखने और कातने में अपना समय मजे से काटा। हां, उसे यह डर अवश्य था कि बाहर निकलने पर भाई उसे व्यापार में लगा देगा। उसने अपने पत्र में लिखा भी था। तब मैंने उसे लिखा कि तुमको चिन्ता करने की जरूरत क्या। जैसा तुम्हारा मन होगा वैसा बापूजी की सलाह से किया जायगा; और हुआ भी वैसा ही। बापूजी की सलाह से ही वह व्यापार में लगा। व्यापार में लगने तक देश का ही काम करता रहा। प्रथम बार जेल गया था तबसे अंतिम बार जेल से छूटने तक पौने चार साल हुए थे। उसने बापूजी से कहा—"आपको दिये पांच वर्ष में से पन्द्रह महीने बाकी हैं। आप पन्द्रह महीने चाहे जो काम लें।" बंगाल, आसाम और मदरास के दौरे में राम को बापूजी अपने साथ ले गये। उस-पर हरिजन फंड और बापू के दस्तखतों के पैसे वसूल करने के अतिरिक्त

बापू के सामान को सम्हालने की जिम्मेदारी थी। इसलिए मजाक में बापू उसे 'हमाल' (मजदूर) कहते थे। साथी भी उसे 'बापू का हमाल' कहने लगे। उसके बाद वह नौजवानों और विद्यार्थियों में काम करने लगा। उसने विद्यार्थी कांग्रेस के काम में काफी हिस्सा लिया। एक बार वह मध्यप्रदेश की विद्यार्थी कांग्रेस का अध्यक्ष भी बना। अ० भा० विद्यार्थी कांग्रेस का वह खजांची भी था। विद्यार्थी कांग्रेस की ओर से प्राग् में होनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय विद्यार्थी कांफ्रेंस में भी वह गया था। युवक कांग्रेस शुरू करने में उसका हाथ रहा और उसका भी काम किया।

उसके विवाह की चर्चा जमनालालजी के सामने ही चल रही थी, लेकिन उस समय तो उसकी उमर उन्नीस वर्ष की ही थी। इसलिए उन्हें इतनी जल्दी सम्बन्ध करना कम पसन्द था। जब जेल से छूटा तब चर्चा चलने लगी। यों तो वातावरण ऐसा ही था कि अन्य जाति की अच्छी लड़की मिल जाय तो पहली बार दूसरी जाति से सम्बन्ध हो। बातें भी चलने लगीं, पर मेरा मन तो जाति की कन्या आवे तो अच्छा, ऐसा था। बातें हुईं, लेकिन अन्त में उसका सम्बन्ध सावित्री की बहन विमला के साथ ही निश्चित हुआ। इस सम्बन्ध के मामले में सावित्री तो बिलकुल तटस्थ रही। दोनों भाइयों ने ही निर्णय किया और विवाह भी जैसे उनके पिताजी की इच्छा रही वैसा ही हुआ।

यों विमला को जमनालालजी का आशीर्वाद तो मिला ही हुआ था। सावित्री का सम्बन्ध होने पर वह उसे उसके साथ वर्धा ले आये थे। उस समय उसकी उमर कोई दस साल की रही होगी, पर उसकी बुद्धिमानी पर वह बहुत खुश थे। कहते, बहुत होशियार लड़की है। वह उस समय उनके साथ ताश खेलती थी, बातें करती थी। उसीसे उन्होंने परीक्षा करके कहा होगा। उनकी डायरी में भी इसका उल्लेख मिलता है। उसके इस घर में आने से दोनों भाइयों का प्रेम बना है, जो आजकल के समय में कठिन है। मैं तो यही मानती हूं कि जमनालालजी तथा बड़ों के आशीर्वाद तथा भगवान् की कृपा से घर में सभीके सम्बन्ध अच्छे हुए और सबको ऐसे ही साथी मिले, जो एक-दूसरे के पूरक हैं।

राम में आज भी अपने बड़ों के प्रति श्रद्धा है और बराबर बड़ों के

अनुशासन में चलता है। मेहनत, काम की लगन एवं व्यवस्थितता के कारण वह व्यापार का बोझ अपने ऊपर होते हुए भी जमनालालजी के पत्रों का संकलन और डायरियों के व्यवस्थित करने में अपना समय देता है। 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद' में उसने बहुत मेहनत की। बच्चों को सदा अपने पिताजी की कीर्ति और कामों का खयाल रहता है। यही मेरे लिए संतोष की बात है।

: ३५ :

मेरी परेशानी

जमनालालजी के कान में दर्द रहा करता था। बहुत इलाज कराया, पर तकलीफ बनी रही। उसका मेरे मन पर भी बोझ रहता था। मेरी झुंझलाहट इसलिए भी थी कि वह अस्वस्थ होते हुए भी निरन्तर कार्य में लगे रहते थे। मेरे कहने का क्या असर होता। यदि वह घर पर रहते तो आने-जानेवालों का तांता लगा रहता। उन लोगों की आव-भगत, व्यवस्था तथा कार्यों के सम्बन्ध में बातें होती रहतीं। उनको अतिथि-सत्कार और सार्वजनिक कार्य में ही आनन्द और खुशी होती। बाहर जाते तब भी कार्यों में तथा कार्यकर्ताओं के साथ बातों में लगे रहते। मोटर में, रेल में भी काम की बातें चलती रहतीं। मैं चाहती थी कि थोड़ा आराम करें, पर उनकी बातें क्यों रुकने लगीं। अन्त में वह इतने थक जाते कि मुझे भी उनसे बात करने में दया आने लगती। गुस्सा तो मन में रहता ही, लेकिन क्या करती? अति प्रेम की इन दो अवस्थाओं में मेरा शरीर अस्वस्थ और कमजोर, तथा मन चिड़चिड़ा रहने लगा। बात-बात में बोलने के स्थान पर रोना आ जाता था।

मैं चाहती थी कि उन्हें थोड़ा आराम मिले। मुझे उनकी सेवा करने का थोड़ा मौका मिले। पर ऐसा बनना कठिन था। इसका मुख्य कारण था सार्वजनिक काम, मेहमानों का आना-जाना, सेक्रेटरियों और नौकरों से माथा-पच्ची। मैं सोचने लगी कि ये ही बातें हैं, जिनके कारण वे आराम करने से और मैं सेवा करने से वंचित हूं। आदमी मोह के कारण क्या-क्या सोचता है। सो मैं उनको परेशान और व्यस्त रखनेवाली इन सब बातों से चिढ़ने लगी। वह कोई सार्वजनिक काम की बातें करते या दौरे में साथ चलने को कहते तो मुझे गुस्सा आ जाता। दिनों-दिन हम दोनों के बीच खींचातानी बढ़ने लगी। वह स्वयं समाधान के लिए भरसक प्रयत्न करते थे और जानते

भी थे कि दोनों में यह खींचातानी क्यों हो रही है, लेकिन उनका जीवन तो पूरी तरह से सार्वजनिक हो ही गया था। वह उससे चाहते तो भी छूट नहीं सकते थे। वह तो उसमें सिर से पैर तक डूब चुके थे। यह तो मेरा ही काम था कि मैं उनके स्वभाव और रुचि को समझकर उनका साथ देती और उनके आनन्द में अपना आनन्द मानती। इस तरह अगर होता तो उनके मन पर मेरा भार कम रहता। मुझे उनके सार्वजनिक कामों से आपत्ति थोड़े ही थी। मुझे भी सार्वजनिक काम तो प्रिय ही थे, फिर भी यह इच्छा रहती थी कि उनको कुछ आराम मिले।

- उन्हें चना, मूंगफली, कच्ची मकई आदि अच्छी लगती थीं। श्री लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर में प्रतिवर्ष उत्सव के अन्तिम दिन तले हुए काबुली चने प्रसाद के रूप में बांटे जाते थे। प्रसाद लेने के लिए भीड़ काफी होती थी। खाने में स्वादिष्ट लगते थे। एक वर्ष के उत्सव के समय जमनालालजी बाहर गये हुए थे। मैंने उनके लिए थोड़े चने बचाकर रख लिये थे। मैं चाहती थी कि वह अकेले में मिलें तो उनको ये चने खिलाऊं। अकेले में कोई चीज खाना उनके लिए जहर-सा था। सबको खिलाने में तथा सबके साथ खाने में ही उनको सुख मिलता था। मैं बार-बार टोकनी में वे चने छिपाकर ले जाती, पर अकेले में मिलना ही मुश्किल था। चने लेकर सामने जाती तो वह कोई-न-कोई काम बता देते। किसीको सेवाग्राम दिखाना है, किसीको बाथ-रूम दिखाना है तो किसीके लिए कुछ और प्रबन्ध करना है। मैं रुंआसी हो जाती पर करती क्या ? एक रोज वह भोजन करके उठे। कुछ लोग सुपारी खाने में लगे थे और कुछ आगे निकल गये थे। उनको बरामदे में से जाते देखकर मैंने उन्हें चने दिखाये। वह यह तो जानते थे कि अगर वह कुछ खा लेंगे तो मुझको संतोष होगा, लेकिन रुकें भी कैसे ? सामने भी कुछ लोग थे और पीछे भी कुछ लोग थे। उन्होंने चने लिये और फंकी मार ली। अब उनकी बड़ी मुश्किल हुई। बोलना और चबाना एक साथ कैसे हो सकता था ? वह सारे चने निगल गये। इससे उन्हें थोड़ा कष्ट भी हुआ। उसे देखकर मुझे भी पीड़ा हुई।

इस तरह मेरी अशांति बढ़ती गई। छोटी-मोटी बातों को लेकर असं-तोष में भी वृद्धि होती गई और मैं चिड़चिड़ी बनती गई। नौकर भी बेपर-

वाह थे। जमनालालजी को खुश रखने के लिए तो वे खूब दौड़-धूप करते, पर मेरी बात की अवहेलना कर जाते। जमनालालजी हर तरह से नौकरों को खुश रखते थे और उनके साथ परिवार-जैसा व्यवहार करते थे। कहा करते थे कि अगर नौकरों को रखना हो तो अच्छी तरह रखो, वरना बिना नौकरों के काम चलाओ। नौकरों के प्रति किसी भी प्रकार के अन्याय को वे नहीं बरदाश्त करते। उनके प्रति वह बहुत उदार रहते थे। नौकरों के बिना चलाना सम्भव नहीं था और नौकरों का मेरे कहने में चलना भी असम्भव ही था। इस तरह नौकरों के कारण भी मन को क्लेश होता रहता।

जमनालालजी के सेक्रेटरियों का ठाट तो और भी बढ़ा-चढ़ा रहता था। वे हमेशा नये-नये युवकों को सेक्रेटरी बनाते, व्यवहार की बातें सिखाते, उनकी जरूरतों का खयाल रखते। लेकिन जमनालालजी के कारोबार को देखकर उन युवकों में भी व्यापार करने और धन कमाने की इच्छा पैदा हो जाती। उनकी इच्छा को समझकर दो-तीन वर्ष बाद जमनालालजी अपने सेक्रेटरी को किसी अच्छे स्थान पर लगा देते। कालेज से निकले हुए युवकों की बुद्धि तो तेज़ होती थी, पर व्यावहारिक अनुभव उनमें कम होता था। इसलिए जमनालालजी का दिमाग़ उनको व्यावहारिकता तथा काम-काज सिखाने में खपा करता था। जमनालालजी के पास रहकर सीखे हुए लोग बड़े स्थानों पर भी रख लिये जाते थे। जमनालालजी के मित्रों की भी मांग रहती थी कि काम सीखे हुए होशियार आदमी उनको मिलें। "लाओ कोई ऐसा नर, पीर-बवर्ची-भिश्ती-खर," कहकर अपने आदमियों को वह आगे बढ़ाते रहते और अपने लिए नया रंगरूट खोज लेते। हर दूसरे-तीसरे वर्ष इस तरह उनके सेक्रेटरी बदल जाते थे। नये आदमी को काम समझने में थोड़ी देर तो लगती ही थी।

वे किसी भी आदमी को रखते समय उसके लिए "पीर-बवर्ची-भिश्ती-खर" वाली कसौटी तैयार रखते थे। वे यह कह देते थे कि उन्हें किसी भी समय कोई भी काम दिया जा सकता है। शुरू में उत्साह और चाह में हर आदमी उनकी बात मान लेता था और प्रेम भी वह ऐसा करते थे कि सेक्रेटरी भी उनका काम मन लगाकर करते थे।

इस प्रकार कई सेक्रेटरी आये और गये। इनमें कई तो आज बड़ी

अच्छी-अच्छी जगहों पर हैं और अच्छा काम कर रहे हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी आये, जिनसे बाद में जमनालालजी को तथा हम सबको बड़ी तकलीफ हुई। उन्होंने अपनेको मिले मौके का दुरुपयोग किया। इन सेक्रेटरियों के बीच में मुझे भी रहना पड़ता था। जमनालालजी तो उनको बहुत स्वतन्त्रता देते थे, पर मेरे कारण उनपर घर की बातों और व्यवहारों में कुछ कसावट आती थी। इसलिए निभने में कठिनाई होती थी। जमनालालजी तो हरेक को बढ़ावा देकर उसके गुणों को खोजकर उससे काम ले लेते थे, पर मुझे तो उसमें बुराई और कमियां ही दिखाई देती थीं। आखिर हर काम में नुक्स ही दिखता था। आखिर में तो जमनालालजी ने यह तय कर लिया था कि जो भी नया आदमी आता, उसे वे मेरे पास भेज देते और अगर वह मुझे जंचता तो ठीक समझा जाता। मेरी कसौटी और भी कड़ी होती। कोई कहता कि वह बी.ए. पास है तो मैं उसे सेक्रेटरीपन के लिए नापास कर देती। अगर कुंवारा होता तो वह भी नापास हो जाता।

जमनालालजी के सेक्रेटरियों को हिदायत रहती थी कि महमानों का पूरा-पूरा खयाल रखा जाय। एक बार किसीने कहा कि मेहमान-घर में तो दूध के गिलास भर-भरकर पिये जाते हैं। मालिश भी होती रहती है। फलों की भी मौज है। जमनालालजी ने कहा, "भाई पेट में ही तो खाते हैं। किसीकी तबीयत सुधारना खुशी की ही बात है।"

दामोदरजी जमनालालजी के अन्तिम सेक्रेटरी थे। मुझसे मीरा और दामोदरजी का परिचय कराते हुए जमनालालजी ने कहा था कि यह दम्पति बहुत सेवा-भावी और भावुक हैं। अपने पास रखने लायक हैं। तुम्हारी कसौटी के मुताबिक ही ये अपने पास निभने-जैसे हैं।

और दामोदरजी ने तो सचमुच ही जमनालालजी को बहुत प्रभावित किया और यहांतक अपना असर जमा लिया कि मुझे तो वह अपनी सौत-सी लगने लगे। वे मेहमानों के साथ खूब प्रेम से व्यवहार करते। सबकी जरूरतों को पूरी करने की धुन में लगे रहते और समान भाव से बरतते। मेहमानों को घर-सा ही लगना चाहिए, यह ध्यान रखते। मुझे उनकी बहुत-सी बातें अटपटी लगती थीं, पर मन मारकर रह जाती थी। पर वे तो अपने मन की ही करते थे।

एक बार जुहू के जानकी-कुटीर के बंगले पर वर्किंग कमेटी थी। बापू भी थे। समुद्र-तट पर शाम की प्रार्थना होती थी। भोलानाथ नाम के सांड को लेकर एक व्यक्ति वहां तमाशा दिखा रहा था। सांड की विशेषता यह थी कि जिस किसी व्यक्ति के बारे में कोई भी गुप्त सवाल किया जाय तो वह उसके पास जाकर खड़ा हो जाता था। प्रार्थना के बाद बापू तो भीतर चले गये और बाकी वर्किंग कमेटी के व्यक्ति वहीं थे। जमनालालजी ने सांडवाले से पूछा कि इतने लोगों में गांधीजी को सबसे प्यारा कौन है ? सांड नेहरुजी के सामने जाकर खड़ा हो गया और सिर हिलाने लगा। यह देखकर सबको बड़ी हँसी आई। बापू ने सुना तो वे भी खूब हँसे ?

जमनालालजी जब वर्धा चले गये तब उन्होंने वहां से शांतिकुमार मोरारजी को तार दिया कि भोलानाथ सांड को जल्दी-से-जल्दी भेजो।

वह तार देखकर महादेवभाई को बड़ी हँसी आई कि कोई भी अजीब चीज हो जमनालालजी के लिए वर्धा में आनी ही चाहिए। मनुष्यों में तो गांधीजी और पशुओं में यह भोलानाथ हैं।

सेक्रेटरियों और नौकरों से मुझे जो परेशानी होती, उसे मैं विनोद में लेने और सहन करने का प्रयत्न करती। कहांतक सफल होती, यह तो भगवान ही जाने, पर मैं अपनी धुन में गुनगुनाती रहती :

राज सिक्रेटरियों का भारी, राज सरवंटों का भारी।
राज सरवंटों का भारी।
कहने को तो राज हमारा, बात चले थारी ।।
सिकरेटरी इक जाय दूसरा तुरत यहां आवे,
दूसरा तुरत यहां आवे,
राज सरवंटों का भारी।
नींद तजे पर दूध सुबह धारोषण पा जावे ।।
मंत्री-पद यह बना द्रौपदी-चीर बड़ा भारी।
द्रौपदी-चीर बड़ा भारी।
जादू टोना करो सिलसिला रहे सदा जारी।
राज सरवंटों का भारी।
राज सिकरेटरियों का भारी।

: ३६ :

पंगत की रंगत

बापूजी के वर्धा आ जाने के बाद से वर्धा में नेताओं और कार्यकर्ताओं का आना-जाना बढ़ता गया। बम्बई-कांग्रेस में बापूजी कांग्रेस से अलग हो गये और वर्धा में रहकर 'ग्राम-उद्योग-संघ' की स्थापना की। कन्याश्रम को छोड़कर बापू मगनवाड़ी में रहने लगे। बाद में सेवाग्राम गये। पर कांग्रेस कार्य-समिति (वर्किंग कमेटी) की मीटिंग अक्सर बजाजवाड़ी, वर्धा में ही होती। रचनात्मक कामों की अन्य सभाएं तथा सम्मेलन आदि भी वर्धा में होते ही रहते। बापूजी और जमनालालजी से मिलने-जुलनेवाले भी आते रहते। देशी-विदेशी यात्रियों, पत्रकारों, नेताओं, कार्यकर्ताओं के आवागमन से बजाजवाड़ी गुलजार रहती थी। लोगों का जमघट लगा ही रहता। इस कारण मेहमान-घर बड़ा करना पड़ा। मकान और बनाने पड़े। भोजनालय की व्यवस्था बढ़ानी पड़ी। देश के बड़े-से-बड़े नेता से लगाकर राजे-महाराजे और साधारण कार्यकर्ता, सब वर्धा आते और बजाजवाड़ी में ठहरते। कभी कोई जान-पहचानवाला आता तो कभी बिना जान-पहचान-वाला। कोई किसी काम से आता तो कोई योंही यात्रा के विचार से। किसी असमंजस में पड़े व्यक्ति को तांगेवाले ही बजाजवाड़ी ले आते। खादी पहननेवालों या कोई भी सार्वजनिक काम करनेवालों के लिए बजाजवाड़ी एक धर्मशाला-जैसी बन गई थी। लेकिन आनेवाला कोई भी हो, जमना-लालजी सबकी सुख-सुविधा का बराबर खयाल रखते। उन्होंने अपने बाल-बच्चों, सेक्रेटरियों तथा नौकर-चाकरों को तो सबकी पूरी व्यवस्था रखने की हिदायत दे ही रखी थी, पर स्वयं भी सारी व्यवस्था देख लेते थे, तभी उन्हें सन्तोष होता था। वे हर व्यक्ति की रुचि का भोजन बनवाते तथा उसके आराम व सुविधाओं का पूरा खयाल रखते थे।

सरोजिनी नायडू को तली हुई हरी मिर्चें पसन्द थीं। राजाजी के लिए रसम, मौलाना आजाद के लिए मोटी रोटी, जवाहरलालजी के लिए आलू, सूखी रोटी और मक्खन, कृपालानीजी के लिए गरम सूप और उसमें मक्खन या क्रीम मिल जाय तो उत्तम, खानसाहव के लिए खिचड़ी में खौलता हुआ घी, डा० पट्टाभि सीतारामैया को भोजन के अंत में दहीभात, जयरामदास दौलतराम को उवली हुई सब्जी, शंकरराव देव को भात में छाछ, गोविन्द-वल्लभ पंतजी को दाल में घी; और इनके अलावा जुदे-जुदे नियम और व्रतवाले लोगों की रुचि और आवश्यकता के अनुसार उसका पूरा ध्यान जमनालाल-जी रखते और धीरे-धीरे उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर दी कि उनकी गैरहाजरी में भी सब ज्यों-का-त्यों चलता।

मोतीलालजी वर्धा आये। जमनालालजी ने उनके ठहरने का पूरा इंतज़ाम किया। उन्हें दमे की बीमारी थी, सो चौकीदार आदि को रात में आवाज देने से मना कर दिया ताकि उन्हें ठीक से नींद आये। सुवह उठे तो पूछा रात को नींद ठीक आई न? मोतीलालजी ठहरे मज़ाकिया आदमी। वोले—एक वांसुरी की आवाज़ और भी चलती थी। जमनालालजी दंग। तहकीकात की कि कहां से आवाज़ आई, पर कुछ पता न चला। फिर मोतीलालजी ने कहा—नीचे किसीके दमे का सुर, ऊपर मेरे दमे का सुर मिलता था। तब खयाल आया कि नीचे काकाजी (कनीरामजी) थे—वह भी दमे से पीड़ित थे, किंतु जल्दी में यह खयाल नहीं रहा कि उनकी आवाज़ भी ऊपर जायगी। अब हँसें या अफसोस करें।

वंगले पर भोजन की पंगत भी अजीव होती थी। बड़े-से-बड़े नेता और साधारण-से-साधारण कार्यकर्ता एक ही पंक्ति में वैठकर भोजन करते। घर के नौकर, सेक्रेटरी, लड़के-लड़की, दामाद आदि भोजन परोसते थे।

कांग्रेस कार्य-समिति की दिमाग खपानेवाली गम्भीर चर्चाओं के वाद पंगत का वातावरण एकदम हँसी, व्यंग, चुटकी और कहकहों से गूंज उठता था। घंटी वजने पर पंगत वैठती थी, पर कभी मीटिंग जल्दी खतम हो जाती या विनोद में सरदार पटेल या कृपालानीजी या जवाहरलालजी पहले ही पंगत में पहुंच जाते और सामने रखी थाली को चम्मचों से वजाने लगते। पंगत में वैठे-वैठे ही कभी महादेवभाई धीरे-से कह उठते—"अरे भाई, देरी

हो तो पहले पापड़ ही परोस दो।" तब सरदार पटेल दूसरे कोने से गम्भीर स्वर में बोलते—"अरे महादेव, यह मारवाड़ी का ढाबा है। -पापड़ संभल-कर मांगना। पापड़ आया कि भोजन खलास!"

इसी तरह एक बार घनश्यामदासजी बिड़ला ने भोजन के वक्त पूछा—"आज का 'मीनू' क्या है?" पास में बैठे हरिभाऊजी बोले—"आज तो राबड़ी बनी दीखती है।"

घनश्यामदासजी चलते-चलते बोले—"अरे, हमने तो कांग्रेस के खजांची के यहां दूध की रबड़ी की उम्मीद रखी थी, पर यह तो निकली छाछ की रबड़ी! क्यों हरिभाऊजी अपने यहां हम आपको दूध की रबड़ी खिलाते हैं तब भी आपका वज़न नहीं बढ़ता; लेकिन जमनालालजी के यहां छाछ की राबड़ी खाकर भी आपका वज़न कैसे बढ़ जाता है?"

सुभाषबाबू जब कांग्रेस से अलग हो गये तो वर्धा में दूसरी जगह ठहरने लगे। लेकिन उनका नौकर भोजन करने बजाजवाड़ी ही आया करता था। उसके भात में मक्खन का होना जरूरी था। सरदार पटेल उसे देखकर कहते—"इसका मालिक भले कांग्रेस छोड़ दे, पर यह बजाजवाड़ी कैसे छोड़े, इसे भात में मक्खन जो चाहिए।"

इसी तरह का हँसी-मजाक का वातावरण भोजन के वक्त बना रहता।

इसी पंगत में लड़कों-बच्चों के नामकरण, किसीकी सगाई, किसी लड़के के लिए लड़की की खोज, किसी लड़की के लिए लड़के की तलाश आदि का काम भी होता। मदालसा के बड़े लड़के 'भरत' का नाम इसी तरह की एक पंगत में रखा गया था।

जमनालालजी की डायरी में शादी के उम्मीदवार लड़के-लड़कियों के नाम लिखते रहते थे। एक रोज सरदार पटेल भोजन के लिए ज़रा पहले आ गये। जमनालालजी के कमरे में उनकी डायरी रखी थी। सरदार ने उलट-पलटकर देखी और शादी के उम्मीदवारों की सूची में चुपके-से अपना नाम लिख दिया। बाद में जब जमनालालजी की निगाह उसपर पड़ी तो एक दिन पंगत में गम्भीरता से बोले—"आज एक उम्मीदवार के लिए आप सबको एक लड़की खोजनी है।" जब जमनालालजी ने सरदार का नाम बताया तो बड़ा कहकहा लगा। इतने में एक नेता बोले—"पहले इनकी लड़की

के लिए लड़का खोजो, बाद में इनके लिए लड़की खोजना।" जमनालालजी ने कहा—"लड़का मिल तो जायगा। आसान काम है। पर वह दूसरे ही दिन रेल की पटरी पर जाकर सो जायगा।" यह सुनकर फिर हँसी के फव्वारे छूट पड़े।

पंगत में परोसने के नियम भी वने हुए थे। परोसनेवालों को यह हिदायत थी कि भोजन करनेवाले को मांगना न पड़े और परोसनेवाले को भोजन करनेवालों से पूछना न पड़े और परोसना चलता रहे। इतने पर अगर थाली में जूठन किसीने छोड़ी तो जमनालालजी फौरन कहते—"आज फलां थाली में भोजन करनेवाले और उनको परोसनेवाले पर एक-एक रुपया जुरमाना किया गया।" कोई-कोई नेता या वालक थाली में जूठी चीजों पर उलटी कटोरी ढांक देता। जमनालालजी की निगाह वह भांप लेती और कटोरी उलटने को कहा जाता। जूठन निकलती तो डवल जुरमाना घोषित हो जाता। जुरमाना देना-दिलाना तो क्या था, इससे एक हँसी और विनोद का वातावरण वनता और दिन-भर की दिमागी थकावट को दूर करने के साथ-साथ लोगों की जूठन छोड़ने की आदत मिटे, यह भी उनका प्रयत्न रहता था।

शुरू-शुरू में जमनालालजी को होड़ लगाकर भोजन कराने का भी वड़ा शौक था। वगीचे में संतरों के पेड़ों के नीचे वैठकर शर्त लगाकर सैकड़ों संतरे इस प्रकार खिलाया करते थे। इसी प्रकार आम के दिनों में आम भी खिलाते थे। वर्षा में मौसम में हुड्डे (जवार के भुट्टे) भूनकर खाये जाते थे। मौसम में कई वार इसकी गोठ होती। इनमें भी होड़ रहती। इसी तरह 'वाणी' (कच्ची जवारी) का हलुवा, वाणी के ही दही-वड़े, वैंगन का भुरता, कच्ची मूली, अमरूद व तिल्ली की चटनी रहती थी। यह सब जवारी के भुट्टों की बनी चम्मचों से खाया जाता था। इस प्रकार पंगत की रंगत जमी रहती।

भोजन के वाद वीच के कमरे में वैठक जमती। बड़े-बड़े लोग वच्चों के खेल खेलते। जवाहरलालजी घोड़ा वनते। सरोजिनी नायडू सवार वनतीं, लेकिन अपनी भारी-भरकम देह को कैसे सम्हालतीं। दो-दो आदमी उनको पकड़कर बैठाते, लेकिन हँसी के मारे वह दुगुनी हो जाती थीं।

वैरिस्टर आसफअली सरकस-जैसी कलावाजी दिखाते। राजाजी माचिस की डिब्बी लेकर बच्चों को खेल दिखाते।

राजेन्द्रबावू को दमे की शिकायत रहती थी। वे इन खेलों में शामिल न हो पाते थे। सो जमनालालजी उनके कमरे में जाकर शतरंज की बाज़ी लगाकर वैठ जाते।

पर देखते-देखते सब दृश्य और रंगत आज सपने की बात हो गई।

: ३७ :

गो-सेवा

व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेनेवाले का जेल से छूटने पर पुनः जेल जाना आवश्यक था। लेकिन बीमार आदमी का सत्याग्रह में भाग लेना मना था। इस सत्याग्रह के प्रथम सत्याग्रही विनोबाजी चुने गये थे। इसके बाद तो एक-एक करके अनेक लोग जेल जाने लगे।

जमनालालजी को अस्वस्थता के कारण कुछ महीने पूर्व ही जेलवालों ने छोड़ दिया। बापूजी ने आराम करने को कहा, लेकिन उन्होंने कहा कि मैं बिना काम किये कैसे रह सकता हूं ? मुझे तो किसी-न-किसी काम में लग ही जाना चाहिए। बापूजी ने कहा कि कम-से-कम जेल की अन्तिम अवधि तक तो यह मानकर आराम करो कि अभी जेल में ही हो, मुद्दत पूरी होने के बाद काम के बारे में सोचेंगे। इसके बाद बापू ने उन्हें राजकुमारी अमृतकौर के यहां शिमला भेजा। उनकी बड़ी भारी कोठी है। उसमें उनके परिवार के पांच व्यक्ति रहते थे। एक कुत्ता भी था और नौकर थे ३५ ! कुत्ते का वहां जैसा लालन-पालन होता था वैसा तो किसी बच्चे का भी होना कठिन है। जमनालालजी का राजकुमारीजी बहुत खयाल रखतीं। उनको आराम मिले, इसलिए उन्होंने जरूरत से ज्यादा व्यवस्था की थी, लेकिन जमनालालजी को संकोच होता था कि राजकुमारीजी पर मेरा बोझ पड़ रहा है। बड़ी मुश्किल से किसी तरह पंद्रह रोज निकाले। लेकिन जेल की अवधि समाप्त होने में तो अभी पंद्रह दिन और बाकी थे।

जमनालालजी ने वहीं से बापू पर अपनी इच्छा प्रकट की, मुझे ऐसी आध्यात्मिक मां मिलनी चाहिए जो मुझे अपनी गोद में सुला सके। बात बड़ी विचित्र थी। और तो सबकुछ मिल सकता है, परन्तु मां कहां मिल सकती है ? बापू ने कहा—"पहाड़ जैसे लड़के को गोद में सुलानेवाली मां

कहां मिलेगी ?" फिर भी वापू ने उनको लिखा कि शिमला से लौटते समय देहरादून में कमला नेहरू की गुरु-माता आनन्दमयी से मिलते हुए आना। जमनालालजी लौटते हुए वहां गये। गये तो थे केवल दो घंटे के लिए, पर रह गये पंद्रह दिन। वहां उनका मन लग गया। वहां के वातावरण से वह बहुत प्रभावित हुए। माता आनन्दमयी के पास उन्हें शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव हुआ। उनकी चर्चा अत्यन्त सात्विक, प्रसन्न और तेजस्वी थी। वहां के धार्मिक और भक्तिपूर्ण वातावरण में जमनालालजी ने अपनी वृत्ति के अनुसार कर्मयोग का कार्य शुरू करवा दिया। माता आनन्दमयी से उन्होंने चर्चा की कि धार्मिक कार्यों के साथ गांधीजी के विधायक काम चलें तो वहुत अच्छा। माताजी ने इसे स्वीकार कर लिया। अव क्या था, वहां हिन्दी की कक्षाएं, खादी का काम, चरखा आदि शुरू करवा दिये गए।

माता आनन्दमयी के पास हरेक भक्त एकांत समय में आत्म-निवेदन करता था। एक दिन जमनालालजी ने भी समय मांगा। उन्होंने कहा—"मां, क्या मैं आपकी गोद में सो सकता हूं ?" माता आनन्दमयी ने कहा—"मां की गोद में सोने में क्या हर्ज है ?" वस, जमनालालजी आंखें मूंदकर माताजी की गोद में ऐसे सो गये, मानो कोई प्रेत पड़ा हो। थोड़ी देर वाद आंखें खोलकर उन्होंने कहा—"अगर इस समय मेरे प्राण भी छूट जायं तो कोई वात नहीं। मेरा अव सव वात से मन भर गया।" उनकी आध्यात्मिक मां की भूख आनन्दमयी की गोद में सोने से पूरी हो गई। जमनालालजी ने माता से तीन वातों की मांग की :

१. मेरी इच्छा है कि आश्रम के निकट जमीन लेकर मकान वनवाऊं, ताकि कोई कार्यकर्ता आराम तथा मानसिक शान्ति प्राप्त करना चाहे तो उसे भेजा जा सके।

२. मुझे 'सेठजी' के वजाय किसी भी छोटे नाम से संबोधित किया जाय।

३. मैं तभी जलपान करूंगा जव आप वताओगी कि मेरी मृत्यु कव होगी।

पहली वात की स्वीकृति आसान थी, दूसरी वात की मांग में माताजी

ने 'भैया' शब्द चुन लिया। लेकिन तीसरी मांग बड़ी कठिन थी। माताजी ने कहा—"यों मृत्यु का समय तो किसीको कैसे बताया जाय। हां, आदमी को यह समझना चाहिए कि हर क्षण उसके सिर पर उसकी मौत खड़ी है।" इससे जमनालालजी का समाधान कैसे होता। बोले—"यह तो ठीक है, पर समय बताओ।" आखिर माताजी ने कहा—"छः महीने की तैयारी से काम करो।" इस वचन पर जमनालालजी को दृढ़ श्रद्धा हो गई, ऐसा लगता है। उनकी डायरियों में मिलता है कि छः महीने तक वर्धा ही में रहना, रेल या मोटर में नहीं बैठना। यह निर्णय उन्होंने १५ अगस्त, १९४१ से १५ फरवरी, १९४२ तक के लिए किया था।

इन दिनों उनका आत्म-मन्थन बड़ी तेजी से चल रहा था। वह व्यापारिक तथा अन्य कार्यों से निवृत्त हो गये और अपनी व्यापारिक बुद्धि के अनुसार ऐसा हिसाब बैठाया कि यदि इन छः महीनों में जाना पड़ा तो उसकी तैयारी रहे। ऐसी साधना करें कि अधिक-से-अधिक समय पारमार्थिक कामों और चित्त-शुद्धि में लगे और आगे रहना पड़े तो आदतें सुधर जायं। इसलिए घरबार से निवृत्ति लेकर जीवन को ऐसे कामों में लगाया, जिससे उनका आत्मीय भाव मूक प्राणियों तक बढ़े। इसीलिए उन्होंने गो-सेवा को चुना था। मानव-सेवा में कहीं-न-कहीं कुछ संघर्ष होना संभव है। जमनालालजी संपूर्ण चित्त-शुद्धि में लग गये। हर क्षण का सदुपयोग करने के प्रयत्न में रहे।

जब उनकी जन्म-तिथि आती तब वह अपने पिछले साल का लेखा लेते और नये साल में पदार्पण करते समय अच्छे संकल्प करते। वे संकल्प पूरे हों, इसलिए प्रातःकाल की प्रार्थना के बाद गुरुजनों के आशीर्वाद लेते। उसके बाद ही जल-पान करते।

बापूजी की सलाह से जमनालालजी ने गो-सेवा का कार्य अपने लिए पसन्द किया था और गो-सेवा-संघ की स्थापना करके वह उस काम में लग गये। उन्होंने अपने-आपको इस काम में इतना तल्लीन कर लिया कि सिर्फ गो-सेवा की ही चर्चा करते थे। यों गो-सेवा-संघ की स्थापना तो अक्तूबर, १९४१ में हुई थी और उसके वह अध्यक्ष बने थे, पर उसकी तैयारी तो उन्होंने इसके पहले ही कर ली थी।

एक बार गाय का खुर उनके पांव पर पड़ गया। खुर गड़ गया। पैर में सूजन हो जाने से चलने में कष्ट होता था। लेकिन दोष अपनेको ही देते--"मैं कैसा आदमी हूं जो सेवा के लायक नहीं, गाय तो पशु है।"

बछड़े पर हाथ फिराते और कहते—इसपर हाथ फिराने से कितना सुख मिलता है। मूक पशु की सेवा में ही निःस्वार्थ प्यार है।

वे चाहते थे कि अपना बचा हुआ जीवन प्राचीन ऋषियों की तरह कुटियों में बितावें। इसलिए एक कुटिया गोपुरी के पास बनाकर रहना चाहते थे, जहां रहकर वे गो-सेवा और आत्मचिंतन में समय बितावें। उन्होंने कुटिया बनाना शुरू करा दिया था और ताकीद कर दी थी कि वह जल्दी-से-जल्दी बन जाय।

रात को उनकी जल्दी उठने की आदत थी। एक रोज वह ३ बजे उठे और लालटेन लेकर शौच गये। उनके हाथ से लालटेन गिर गई और उसका कांच टूट गया। इसपर उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उस रोज अपनी डायरी में लिखा—"मैं कैसा आदमी हूं कि मेरे द्वारा दूसरे को कष्ट होता है, मेरा बोझ दूसरे पर होता है।" जमनालालजी को इन दिनों दूसरों का भी बहुत खयाल रहता था। किसीका ज़रा भी नुकसान उन्हें असह्य था। ज़रा भी भूल होती तो उसका उनके मन पर बहुत असर रहता था।

जैसी-तैसी अधूरी बनी झोंपड़ी में दूसरे दिन ही वे रहने चले गये। उन्हें पूरा एकान्त चाहिए था। इसलिए मैं भी डरती हुई वहां उनके पास रहने कैसे जाती, क्योंकि मैं उनके खाने-पीने की या आराम की चिंता करूं, यह भी उन्हें असह्य था। वहां उन्होंने अपने पास कौसल्या नाम की एक गाय रखी थी। हाथ-मुंह धोकर वे उसकी सेवा करते, उसके बदन को सहलाते फिर वह अपनी मां के पास चले जाते और उनकी गोद में अपना सिर रखकर भजन सुनते और डायरी लिखते। उसके बाद प्रार्थना करके घूमने जाते। घूमते हुए सबसे मिलते, सुख-दुःख की बात पूछते और जिससे खास बात करनी होती, उसे साथ ले लेते। इस प्रकार रात-दिन जमनालालजी का चिन्तन गो-सेवा-सम्बन्धी कामों का ही चलता। कोई व्यापार की बात करता तो कहते—"मेरे साथ व्यापार की बात मत करो।" कुटिया का नाम 'जानकी-कुटीर' रखा था।

इसी बीच राधाकृष्ण खादी के काम से सीकर जाने लगा तो मैं भी उसके साथ चली गई। वर्धा में जमनालालजी का नया जीवन-क्रम देखकर मन कुछ खिन्न रहने लगा था। उनके काम में मेरा सहयोग तो संभव था नहीं। इस कारण मन के बहलाने के विचारसे ही सीकर गई थी।

कुछ दिन बाद रामकृष्ण (सबसे छोटा पुत्र) लेने आया। मैं वापस वर्धा पहुंची।

मेरे लौटने पर जमनालालजी बड़े खुश हुए और हँसकर बोले—"जानकी-जी, आ गईं।" उन दिनों जमनालालजी नेत्र-यज्ञ तथा गो-सेवा-सम्मेलन के कामों में व्यस्त थे। मैं बंगले पर रहने लगी। एक दिन वह बोले—"तेरा क्या मन है? सेवाग्राम बापू के पास जाना हो तो वहां जा सकती हो। कुटिया पर आना हो तो कुटिया चलो।" मैंने कहा—"मैं तो कुटिया में चलूंगी।" जमनालालजी बोले— "ला, अपना बिस्तर टमटम में रख।" मेरी तो मन-भाती बात हो गई। जल्दी-जल्दी बिस्तर लपेटकर मैंने टमटम में रखा और गोपुरी पहुंच गई। हम दोनों वहां पांच रोज ही साथ रह पाये।

कुटिया में पहुंचने पर जमनालालजी को मेरी वजह से कष्ट न हो या अशांति न हो, इसका मैं पूरा ध्यान रखने लगी। वह जल्दी उठते थे, पर मेरी आदत कुछ देर से उठने की थी। वह उठ जायं और मैं सोती रहूं, यह कैसे अच्छा लगता, इसलिए मुझे ठीक से नींद नहीं आती। हमेशा यही खयाल बना रहता कि कहीं वह उठ तो नहीं गये। इसलिए मैंने उनसे कहा कि आप उठ जाया करें तो मुझे भी जगा दिया करें। तबसे वह उठने पर मुझे जगा देते। मैं भी उठकर जैसा वह करते, करने लगती। मेरा मन किसी काम में लगा रहे, इस खयाल से गो-सेवा के लिए आये हुए एक साधु से उन्होंने कहा कि जानकीदेवी को सितार सिखा दो। मैं सीखने लगी, लेकिन जमनालालजी रात-दिन गो-सेवा के काम में ही लगे रहते थे।

गो-सेवा के कार्य को और बढ़ाने की दृष्टि से जमनालालजी ने बापूजी की सलाह से एक गो-सेवा-सम्मेलन का आयोजन किया। सम्मेलन सफलता-पूर्वक हुआ। इसमें सारे हिन्दुस्तान से लोग भाग लेने के लिए आये। जमना-लालजी को पुराने मित्रों और कार्यकर्ताओं से मिलकर बड़ी खुशी हुई।

: ३८ :

जमनालालजी का देहावसान

सम्मेलन पूरा होने के बाद से उनके सिर में दर्द रहने लगा। उनकी आदत ऐसी थी कि दर्द को चुपचाप बरदाश्त करते। बहुत कम उसकी चर्चा करते। दर्द बहुत होता तभी उनके मुंह से बात निकलती।

मातादीनजी भगेरिया ने गांधीजी सम्बन्धी काव्य लिखा था। इन दिनों वे वहां आये हुए थे और जमनालालजी को सुनना चाहते थे। जमनालालजी की ऐसी दशा कहां थी जो सुनें, पर उनका मन राजी रखने के लिए महिलाश्रम में उन्होंने एक दिन कार्यक्रम रखवाया, जिससे महिलाश्रम की लड़कियां भी सुन सकें। हम लोग भी पहुंचे। जैसे-तैसे वह थोड़ी देर बैठे। जब दर्द बर्दाश्त के बाहर हुआ तो उठकर जानकी-कुटीर में चले गये और सो गये। दूसरे दिन भी सिर में दर्द था। अत: बोले कि आज सिर में दर्द है, इसलिए आज सेवाग्राम जाना मुश्किल है। लेकिन उन दिनों सेवाग्राम में घनश्यामदासजी बिड़ला ठहरे हुए थे। उनका फोन आया तो वह जाने के लिए तैयार हो गये। जब मैंने कहा कि आपने तो कहा था कि आज दर्द है, इसलिए यहीं रहेंगे। तो वे बोले—"आज बापू का मौन है। घनश्यामदासजी अकेले रहेंगे। उनसे कुछ हँसी-मजाक करेंगे। उनका दिल बहलेगा।" यह कहकर वह टमटम में बैठे और सेवाग्राम को रवाना हो गये। लेकिन उनका सिर-दर्द बढ़ता ही गया। वहां पहुंचने पर महादेवभाई, किशोरलालभाई तथा कृष्णदास गांधी से बोले कि मुझे आपसे बात करनी है, पर आज तो सिर में दर्द बहुत है, फिर आकर बात करूंगा। बिड़लाजी से थोड़ी-बहुत बातचीत करके वापस आये। बापूजी से विदा लेने गये, पर वह स्नानघर में थे। वह ऐसे ही लौट आये। बापूजी को मालूम हुआ तो उन्होंने कहा कि सिर में दर्द था तो मैं उन्हें रोक लेता।

सेवाग्राम से वह वापस आये। उन्हीं दिनों चीन-राज्य के प्रधान चांग-काई शेक के आने की बात थी, इसलिए बजाजवाड़ी में व्यवस्था समझाकर वह जल्दी ही जानकी-कुटीर लौटे और सो गये। दूसरे दिन सवेरे भी सिर में कुछ दर्द था। इसलिए एनिमा लिया। इससे दर्द कुछ हलका हुआ तो बोले—"देख, मैंने बिना दवाई के ही बीमारी दूर कर ली।" फिर वह घूमने चले गये। मैं भी साथ थी। बजाजवाड़ी पहुंचने पर चांग-काई शेक का कार्यक्रम रद्द होने की खबर मिली। वह लोगों से बातचीत करने लगे। मैं भी बंगले में काम देखने में लग गई। बाद में उन्होंने बंगले की व्यवस्था आदि के बारे में बातें कीं। उसके बाद दुकान जाने को रवाना हुए। उस दिन एकादशी थी और सावित्री ने फलाहार के लिए दुकान पर हम दोनों को बुलाया था। राजनारायणजी और ओम् भी उसी दिन बम्बई से आये थे। जमनालालजी बोले कि आज तो ताश खेलेंगे, जिससे सिर हलका हो। वह दुकान पर एक साल के बाद आये थे।

कुछ देर सुस्ताने के बाद फलाहार किया। दो बजे सेवाग्राम जाने के लिए टमटम तैयार करने को कहा। लेकिन ओम् बोली कि आज हमें आपके साथ चार बजे तक ब्रिज खेलना है। जमनालालजी बोले—"अच्छा, मैं थोड़ा आराम कर लेता हूं, तू चरखा लगा दे।" राजनारायणजी से बोले—"तुमसे डेरी-फार्म खोलने की बात करनी है, सो मैं उठूं तो याद दिला देना।" उसके बाद पन्द्रह-बीस मिनट सोकर शौच गये। लौटकर आये तो बहुत थके हुए थे, तकिए के सहारे पड़ गये। मैं उन्हें आराम करते देखकर दूसरे कमरे में चली गई। ओम् ने देखा कि काकाजी सोकर उठने के बाद तो चरखा कातने-वाले थे, यह बात क्या है? सावित्री और ओम् भागी आईं। जमनालालजी सावित्री से कहा—"मेनथाल हो तो लाओ।" वह दौड़ी-दौड़ी नीचे गई। घर में मेनथाल न मिलने पर दवाईवाले की दुकान से मंगाया। उस समय उसके सिर में भयानक दर्द हो रहा था। उन्हें उलटी आई। उसके लिए उठे। उलटी करके फिर लेट गये। मैंने पैरों में घी मसलने के लिए ओम् को बुलाया तो इशारा करके कहा कि तुम्हीं मलो। बहू और बेटी को पैर छुआने से वह बचते थे। मैं घी मलने लगी। सिर में दर्द ज्यादा बढ़ा तो वह बोले—"अरे, कोई एस्प्रीन ही दो।" इतना कहकर वह एकदम निढाल हो गये। उन्हें फिर

उलटी हुई। इतने में डाक्टर भी आ गया। मैंने आंख खोलकर देखीं तो लाल सुर्ख थीं। डाक्टर ने रक्त-चाप लिया तो २५० था। उनकी नस काटने की बात डाक्टरों में चली, लेकिन किसीकी हिम्मत न पड़ी। थोड़ी देर के बाद सिविल सर्जन ने आंख देखी और वह बाहर चले गये। हमने समझा कि इन्हें कष्ट न हो, इसलिए वह बाहर चले गये हैं। लेकिन समझते देर न लगी कि सबकुछ समाप्त हो गया है। बात चारों ओर फैल गई। विनोबाजी आ गये। बापू को फोन गया। वह भी आये, लेकिन उनके आने के पहले ही वह गो-लोकवासी हो गये थे। जहां वह पहले सोते-बैठते थे, और जहां बैठकर उन्होंने दादाजी को वैराग्य-भरी चिट्ठी लिखी थी, वहीं उनके प्राण गये। ओम् ने कहा कि भले ही उन्होंने घर त्यागकर झोंपड़ी में वास किया हो, पर वह राजयोगी थे, इसलिए महल में ही गये।

बापूजी को फोन किया तब मुझे डर लगा कि कहीं बापूजी आ गये और इन्होंने आंख खोलकर देख लिया तो ! बापूजी को देखकर एक बार तो उन्हें धक्का ही लगेगा, फिर भले ही अच्छा लगे, क्योंकि अपने लिए बापूजी को ज़रा भी कष्ट हो, यह उन्हें असह्य था। विनोबाजी तो आकर स्तब्ध बैठ गये, पर बापूजी ने आते ही जमनालालजी के सिर पर हाथ रक्खा। बापूजी को देखते ही मैं बोली—"बापूजी, आप इनके पास होते तो यह कैसे जाते। इनकी तबीयत बिगड़ते ही जल्दी खबर भेज दी जाती तो अच्छा होता। बस, अब तो आप इन्हें जीवित कर दीजिये। आप ही जिला सकते हैं।"

बापूजी बोले—"जानकी, तुम्हें अब रोना नहीं है, तुम्हें तो हँसना है और बच्चों को भी हँसाना है। जमनालाल तो जिन्दा ही है। जिसका यश अमर हो, उसकी मृत्यु कैसी ? उसकी मृत्यु तो तभी हो सकती है, जब तुम उसके रास्ते न चलो। उसने परमार्थ की जिन्दगी बिताई। जो काम उसने अपने कन्धों पर लिया था, उसे अब तुम सम्हालो। मैं तुम्हें झूठा धीरज देने नहीं आया। जमनालाल तो जिन्दा ही है। उसे जिन्दा रखना हमारा काम है।"

मैंने विनोबाजी की तरफ इशारा करके कहा—"तुम तो इनको भगवान के दर्शन कराओ।" पर वह चुपचाप बैठे रहे। बापू बोले—"जानकी, जमनालाल को तो भगवान के दर्शन हो चुके, अब तो तुम्हें करना बाकी है। उसकी तैयारी करो। जो काम उन्होंने आधा किया है, उसे पूरा करो। उसके लिए

अपने सर्वस्व को होम कर दो।"

बचपन में सती होने की मेरी इच्छा थी, वह जाग उठी। मैं बोली—"बापूजी, मैं सती होना चाहती हूं। आज्ञा दीजिये।" बापू बोले—"शरीर को जलाने से क्या फायदा ? वह तो तुच्छ है, मिट्टी है। अपने सब दुर्गुणों को जला देना ही सतीत्व है। अपने सब दुर्गुणों का चिता में होम करो। फिर बाकी बचेगा, वह शुद्ध कंचन रहेगा। उसको कैसे जलाया जाय ? उसे तो कृष्णार्पण ही किया जा सकता है। स्त्रियों को मैं त्याग-मूर्त्ति मानता हूं, क्योंकि हिन्दू-स्त्री विधवा होने पर सारे भोगों को तिलांजलि देती है, विकारों का शमन करती है। अब तुम त्याग-मूर्त्ति बन गईं। अपने अवगुणों को जमना-लाल की चिता में जला दो। अपना जो कुछ हो, वह उसके काम में लगा दो। यही सती होना है। उठो, तुम सती हो जाओ।" मैं बोली, "मैं और मेरी सम्पत्ति उनके काम के लिए अर्पित है।"

खबर तो चारों ओर फैल ही गई थी। बम्बई से फोन आया कि लोग स्पेशल गाड़ी लेकर जमनालालजी की अन्तिम यात्रा में शामिल होना चाहते हैं। प्रश्न खड़ा हुआ कि क्या किया जाय, मेरे ध्यान में उनके वे शब्द आ गये, जो उन्होंने बम्बई में अभ्यंकरजी की मृत्यु पर कहे थे—"प्राण चले जाने पर शरीर का क्या ? उसके लिए धूमधाम क्यों !" मैंने कहा—"मृत शरीर को रातभर रखना उनकी भावना के विरुद्ध है। सबको तकलीफ होगी। किसीका भी कष्ट उन्हें असहनीय था। तब यही निर्णय हुआ कि तुरन्त ही तैयारी की जाय।" राधाकृष्ण ने पूछा कि स्नान कहां कराया जाय ? मैं बोली—"नीचे चौक में।" घर में गंगाजल का घड़ा था, वह लाया गया। उनकी देह नीचे ले जाने लगे। मैं हाथ पकड़कर 'ओम्-ओम्' कहती हुई चली। गंगाजल से जमनालालजी को नहलाया गया। मेरी चरणामृत पीने की आदत थी, सो मैंने अंजुली भरकर स्नान कराया हुआ गंगाजल पी लिया। मैंने उस जल की शीशी भर ली। पर बाद में विनोबाजी के समझाने पर उस जल को समाधि पर लगाये हुए पौधे पर चढ़ा दिया। समाचार मिलते ही लोग इकट्ठे हो गये। किसीको यह बात सच नहीं लगी। कोई कहता था कि हमने आज उन्हें गोरक्षण में देखा। कोई बोलता था कि बजाजवाड़ी में बैठे थे, किसीने कहा, दुकान पर जाते मैंने देखा। यह कैसे हो सकता है ?

पर जब वहां आकर देखा तो हक्के-बक्के रह गये। नहलाने के बाद बापूजी ने अपना दुपट्टा उतारकर उढ़ा दिया। जमनालालजी के लिए अन्तिम वस्त्र तो विनोबाजी के कते सूत की खादी का मंगाया गया। मैंने सोचा, बापूजी का दुपट्टा क्यों जलाया जाय, इसलिए उसे उठाकर मैंने गले में लपेट लिया, जो अब भी मेरे पास है।

जब अरथी को बांधने लगे तो दादीजी एकदम चिल्लाईं कि यह क्या कर रहे हो। अबतक तो वे यह समझती रहीं कि यहां कोई बड़ी सभा है, लोग इकठ्ठे हुए हैं, गांधीजी भी आये हैं। उन्हें पता भी क्या लगे कि ऐसी भयानक घटना हो गई है, क्योंकि रोना-धोना तो सब मन में ही था। कोई भले ही चुपचाप इधर-उधर रो ले, लेकिन जमनालालजी की हिदायत रही थी कि मौत के समय रोया-धोया न जाय, मौत को बुरा न माना जाय। दादीजी का रोना असीम था। बापूजी उन्हें बहुत देर तक समझाते रहे, पर उनके रुदन को रोकना असम्भव था। इसी स्थान पर उनके तीन बेटे और एक जंवाई गया था, उसका स्मरण कर उनका दुःख बढ़ता ही जाता था।

तैयारी होने पर अरथी चलने लगी। मैं भी ओम्-ओम् करती हुई अरथी पकड़े हुए जा रही थी। महिलाश्रम की लड़कियां, घर-कुटुम्ब की औरतें, गांव के लोग मानो समुद्र ही उमड़ पड़ा हो। लड़कियां बोल रही थीं—"राम धुन लागी, गोपाल धुन लागी।" सब लोग यही बोलते हुए जा रहे थे। मैंने कहा कि जो कंधा देना चाहे, उसे देने दो। चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, जमनालालजी तो सबके थे।

दाह-क्रिया गोपुरी में जमनालालजी की झोंपड़ी के सामने करना तय हुआ। चिता की तैयारी की गई। कपूर से चिता को प्रज्वलित किया गया। मैंने बापूजी के हाथ में कण्डा दिया। मैं कहीं चिता में कूद न जाऊं, इसलिए बापूजी ने मुझे पकड़ लिया था। बापूजी ने विनोबाजी को वेद और उपनिषदों के मन्त्र पाठ करने को कहा। विनोबाजी ने उपनिषदों के मन्त्रों का पाठ किया। परचुरे शास्त्री ने वेद-मन्त्र कहे। अम्तुस्सलाम ने क़ुरान की आयतें कहीं। बा, महादेवभाई तथा भगवानदेवी सेकसरिया को तो मूर्च्छा आ गई, पर मैं शून्य भाव से चिता की ओर देखती रही। इस समय मन में

यही भाव था मानो वह मुझमें प्रवेश कर रहे हैं। पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों रात पड़ने लगी, खालीपन का अनुभव होने लगा। विनोबाजी रात-भर मेरे पास बैठे थे। मैं उनसे बार-बार पूछती कि अब वह कहां मिलेंगे।

जमनालालजी के जाने की वेदना तो बाद में धीरे-धीरे बढ़ने लगी, और अब तो क्षण-क्षण उनकी कमी महसूस होती रहती है।

: ३९ :

सन् ४२ का विद्रोह और उसकेबाद

ऐसा मालूम होता है, जमनालालजी को अपने जाने का कुछ आभास पहले से ही हो गया था। पर हम सबको इसकी कल्पना क्या होती कि वह इतनी जल्दी चले जायंगे। बापू के लिए यह अकल्पनीय था। इसलिए सबको बड़ा भारी धक्का लगा। बापू तो ऐसा महसूस करने लगे मानो उनकी बांह ही टूट गई। लेकिन बापू तो योगी थे। वह इस दु:ख को पी गये और तुरन्त ही सम्हलकर यह विचार करने लगे कि जमनालालजी के कामों को किस तरह सम्हाला जाय।

जमनालालजी के शुरू किये गए रचनात्मक कामों को पूरा करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बापूजी ने जमनालालजी के मित्रों तथा स्नेहियों की एक सभा बारहवीं के दिन बुलाई, जिसमें बापू ने कहा कि जमनालालजी के चाहनेवालों, प्रेमियों और मित्रों का यह कर्त्तव्य है कि उनके कामों को करें, जिससे उनकी आत्मा को सन्तोष मिले। उन दिनों वातावरण में गम्भीरता थी और बापूजी, जमनालालजी के प्रति लोगों के हृदय में जो सद्भावना थी, उसे काम में लगाना चाहते थे। एक तो योंही मृत्यु के बाद वैराग्य की भावना उमड़ पड़ती है, फिर जमनालालजी जैसे कर्मशील और प्रेममूर्त्ति के वियोग से तो वैराग्यमय वातावरण और भी अधिक गहरा हो गया। उसपर बापूजी जैसे महापुरुष के बोलने का प्रभाव तो सबपर पड़ना ही था। उन दिनों मेरा हाल अजीब था। मेरे लिए यह आघात ऐसा था कि मैं सुन्न-सी हो गई थी। उनके जीवन का महान उद्देश्य पग-पग पर याद आने लगा। उसकी सचाई प्रतीत होने लगी और उसको अपने जीवन में उतारा जाय यही भावना बढ़ती गई।

जमनालालजी के स्वर्गवास के बाद उनके शरीर की साक्षी देकर जो

कुछ मेरे पास था उसके समर्पण का संकल्प तो मैंने कर ही लिया था, लेकिन अब अपने-आपको काम में लगाने की बात थी। हमारे परिवार में बापूजी के विचारों का गहरा असर था। जो कुछ मुझसे बन पड़ा, उसका श्रेय तो बापूजी को ही है। पिछले बीस साल से जो उपदेश वह देते रहे थे, उसीका यह परिणाम था। मैं अपना एक-एक क्षण जमनालालजी के काम में लगाऊं, यही बापूजी भी चाहते थे। इसी कारण बापूजी ने मुझ-पर गो-सेवा की जिम्मेदारी डाली। मैंने गो-सेवा का काम करने का संकल्प तो कर लिया, पर जब मुझसे 'गो-सेवा-संघ' की अध्यक्षा होने के लिए कहा गया तब मैं सहम गई। मैंने बापूजी से कहा कि मैं काम तो करूंगी, लेकिन इतना बड़ा बोझ मुझपर मत डालिये। तब मुझे चुप रहने का इशारा कर उन्होने गो-सेवा-संघ के काम का बोझ मुझपर डाल दिया और कहा—"तुम्हें ऐसे लोगों की मदद मिलेगी जो तत्व और व्यवहार को सम्भाल सकें।" इस दृष्टि से विनोबाजी तथा घनश्यामदासजी बिड़ला उपाध्यक्ष बनाये गए। वातावरण ही ऐसा था कि बापूजी ने जो कुछ कहा, उसे मानना और अपनी शक्ति के अनुसार उस काम को करना, यही सबकी मनोवृत्ति थी। इसलिए विनोबाजी तथा घनश्यामदासजी ने भी स्वीकृति दे दी। बारहवीं को मृतक के पीछे सांड छोड़ने की प्रथा है। इसलिए पांच लाख के एक हजार सांड उनके पीछे छोड़ने का संकल्प रामेश्वरदासजी बिड़ला ने किया और उसे उन्होंने पूरा किया।

मैं गो-सेवा-संघ की अध्यक्षा बनी। शांतिकुमार मुरारजी भी एक उपाध्यक्ष बने। संस्था के खर्च आदि का प्रबन्ध मुझसे कैसे होगा इसीकी चिन्ता, रहती। शांतिकुमारजी विनोद में कहते—"मैयाजी तुम, सबसे डरती क्यों हो या पूछती क्यों हो? जो जी में आये सो करती जाओ, गाय को भैंस का पाड़ा होने से तो रहा।"

जब जमनालालजी का देहान्त हुआ तब कमलनयन गोला के शक्कर के कारखाने में था। उसे कलकत्ते से फोन मिला। जब फोन में कहा गया कि वर्धा में बहुत बड़ी दुर्घटना हो गई, तो उसके मन में यही विचार आया कि या तो काकाजी नहीं रहे या बापूजी नहीं रहे। लेकिन दूसरे ही क्षण यह विचार आया कि बापूजी की देश को बहुत जरूरत है और उनका

रहना आवश्यक है। जब उसे निश्चित रूप से मालूम हुआ कि काकाजी नहीं रहे, तब उसने कारखाने के कार्यकर्ताओं और मजदूरों को जमा करके यह दुःखद संवाद बताया और कहा कि काकाजी के शोक में कारखाना बन्द नहीं होना चाहिए। ऐसी गम्भीरता उसमें उस समय थी। घटना हृदय को हिला देनेवाली थी। देश-सेवक पिता के गो-लोक-वास की खबर पाकर बेटे द्वारा ऐसी बातों का किया जाना मामूली बात थोड़े ही थी। लेकिन हमारे यहां ये बातें जमनालालजी के आचरण और व्यवहार के कारण स्वभाविक बन गईं थीं। गोला से रवाना होने पर उसे लखनऊ स्टेशन पर माता आनन्दमयी मिल गईं। उनकी वर्धा आने की तैयारी थी। जमनालालजी ने पिछले छह महीने में माता आनन्दमयी को वर्धा बुलाने के बहुत प्रयत्न किये थे, लेकिन सब प्रयत्न विफल रहे। जमनालालजी जब किसीको वर्धा बुलाने का निश्चय करते तब बुलाकर ही चैन लेते, पर माता आनन्दमयी के समक्ष एक न चली। पर अब वह आ रही थीं, यह अद्भुत घटना थी। कमलनयन ने जब उनको बताया कि काकाजी तो चले गये हैं, तब वह बोलीं कि 'भैया' को आत्मदर्शन हो रहा है। उसके बाद वह रुक गईं और तीन दिन बाद वर्धा आईं।

जमनालालजी के शरीरान्त की खबर सुनने के बाद कमलनयन ने जल भी छोड़ दिया। स्टेशन पर जब उसे मालूम हुआ कि विनोबाजी रामायण का पाठ कर रहे हैं तब वह नहाकर वहां पहुंचा। उस समय की उसकी दशा का वर्णन करना कठिन है। आते ही मेरे गले से लिपट गया। हम दोनों शून्यवत् थे। हमारे आंसू सूख गये थे। पर लोगों की आंखों से आंसू बह रहे थे। जब उसे छाछ पीने को कहा गया तब मालूम हुआ कि तीन दिन से पानी ही कहां लिया है। आखिर उसने मुझे छाछ पिलाकर ही स्वयं छाछ पी।

घर के लड़के-लड़कियों, बहुओं सबकी दशा एक-सी थी। जैसे जमनालालजी की आत्मा ने हम सबके अन्दर प्रवेश किया हो, इस तरह हम सब भावावेग में थे। सबके मन में एक यही बात रम रही थी कि उनके कार्यों में योग देकर उनके जैसे बनें। कमल ने वर्धा पहुंचने पर सबसे पहले यह जानने की कोशिश की कि उसके काकाजी ने किस संस्था के लिए क्या देने को कहा था या उनकी क्या इच्छा थी। उसने सर्वप्रथम उनके सब वचनों की पूर्ति

की। पवनार का बंगला उसने विनोबाजी को अर्पित किया। बजाजवाड़ी में आने-जानेवालों के लिए जमनालालजी के द्वारा जैसी व्यवस्था चलती थी, वह चालू रखने के लिए एक लाख रुपये उसने लक्ष्मीनारायण-मन्दिर में जमा करा दिये, जो सात साल में खर्च हुए और अब वह खर्च लड़के ही चलाते हैं। दोनों भाइयों ने विचार करके जमनालालजी की जो सम्पत्ति थी, उसका ट्रस्ट बनवा दिया। जब घनश्यामदासजी बिड़ला ने घर का हिसाब देखा तो वह ताज्जुब में रह गये। बोले कि जमनालालजी तो धन के बल की जगह आत्मबल पर ही अपना काम चलाते रहे। बिड़लाजी उनके अभिन्न मित्र थे। उनको भी उनकी मृत्यु से बड़ा धक्का लगा। हमारे परिवार के प्रति उनकी जो आत्मीयता थी और वह अबतक चल रही है।

बापूजी ने बारह दिन के बाद मुझे सेवाग्राम बुला लिया। सावित्री भी मेरे साथ सेवाग्राम रहने चली आई थी। उसके जीवन में विशेष परिवर्तन आ गया था। सारे राजसी सुखों को छोड़कर वह आश्रम का जीवन बिताने लगी, और वहां जो कुछ आश्रम का खाना मिलता, वही खाकर आश्रम में काम करती। जब बापू का 'करो या मरो' आन्दोलन शुरू हुआ तब वह भी जेल गई। वह नाजुक तो थी ही और सुख-वैभव में पली थी। उससे जेल-जीवन कैसे बरदाश्त होगा, यह प्रश्न था। लेकिन उन दिनों उसपर भी एक तरह का नशा छाया हुआ था। ओम् भी साथ गई। महिला-आश्रम की अस्सी लड़कियां भी निकल पड़ीं। यद्यपि सावित्री ने जेल-जीवन को बड़े उत्साह और आनन्द के साथ बरदाश्त किया, मन को सम्हाले रही, तथापि शरीर को आखिर कैसे बरदाश्त होता? वह बीमार पड़ गई। जेल से छूटकर जब वह आई तब उसे कुरसी पर लाया गया। उसका चेहरा देखकर लोगों को रोना आ गया। जेल से उसके स्वास्थ्य पर हुए परिणाम को दूर करने के लिए उसे तीन साल मसूरी रहना पड़ा।

राम भी ९ अगस्त को बापू की गिरफ्तारी के बाद गांवों में जाकर उनका सन्देश सुनाने लगा। पुलिसवाले तो पीछे पड़े ही हुए थे। वह उनको छकाकर गांवों में जाता और लोगों को समझाता। एक बार पुलिसवालों ने उसे खेतों में देख लिया। वे पीछे दौड़े। राम पुल के नीचे छिप गया। पुलिसवालों ने लकड़ी के कुन्दों से मार-मारकर राम को निकाला और

बाहर निकालने पर भी उसे बहुत पीटा और अपशब्द कहे। तब उसने कहा—"तुमको मारना है तो जितना चाहो मार लो। लेकिन गाली क्यों देते हो?" उसे जेल ले गये। बापूजी ने 'करो या मरो' का नारा इस तरह लगाया था कि सबके ऊपर उसका गहरा प्रभाव पड़ा और सभी लोग मरने का डर छोड़कर काम करने लगे। धीरे-धीरे सब लोगों को पकड़ लिया गया। कमल इसलिए रुक गया कि राधाकृष्ण के ऊपर सरकार ने ऐसा केस बनाया कि वह फांसी पर ही चढ़ाया जाय। उस केस के लिए उसे बाहर रहना पड़ा, पर वह हर तरह से आन्दोलन को मदद पहुंचाता रहा। उसने भी तन, मन और धन से इस आन्दोलन में साथ दिया।

मैं गो-सेवा के काम में लगी ही थी कि धीरे-धीरे सब लोग इस आन्दोलन के कारण जेल चले गये। उस समय गो-सेवा-संघ के मंत्री स्वामी आनन्द थे और सहायक मन्त्री थे श्री रिषभदास रांका। वे भी जेल चले गये, और पारनेकरजी तथा स्वामी आनन्द आंदोलन में लग गये। राधाकृष्ण पर जो केस चला, वह भयानक था। वह जेल में था ही। श्रीमन्जी भी पकड़े गये। बालुंजकरजी पहले तो आन्दोलन के काम में लगे और बाद में वह भी जेल चले गये। जैसे-तैसे काम चलता रहा। मैं भी थोड़ी-बहुत देख-रेख करती; पर ४२ के इस महान् आन्दोलन के आगे रचनात्मक कामों की ओर कुछ दिनों तक बहुत ही कम ध्यान दिया गया। सरकार ने भी दमन बड़े जोरों का किया। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब दस साल तक कांग्रेस का उठना मुश्किल है। इस तरह से उसे कुचल दिया गया। बच्चों तक को महात्मा गांधी की जय बोलने पर बेरहमी से पीटा गया।

इस आन्दोलन ने अनेकों के बलिदान लिये थे। अनेकों ने कष्ट सहा था। बापू ने भी महादेवभाई को खोया। फिर बा भी गईं। ये आघात तो बड़े थे ही, पर बापू ने तो कई जहर के प्याले पिये थे, इसलिए वह बरदाश्त करते ही गये। यों बापूजी ने यह आन्दोलन बहुत सोच-विचारकर और सरकार को बहुत मौके देकर शुरू किया था, अंग्रेजों को कठिनाई में डालने का उनका इरादा नहीं था। उनकी अड़चन से लाभ उठाना उन्हें नापसंद था। इसलिए उन्होंने बहुत मौका दिया। जब अंगरेजों की नीयत साफ न दिखाई दी और क्रिप्स-मिशन के आने पर बातचीत में उन्हें सन्देह का अनु-

भव हुआ तब वह तिलमिला उठे। जब वह दिल्ली से लौटे, तो बहुत ही गम्भीर थे और उन्होंने निश्चय-सा कर लिया था कि अब कुछ कठोर कदम ही उठाना चाहिए। कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की मीटिंगें हुईं। उनमें प्रायः सभी बापूजी के विचार के ही थे। राजाजी का विचार भिन्न था। वह कहते थे कि इस मौके से लाभ उठाना ही चाहिए। बापू कुछ ऐसा कदम उठाना चाहते थे कि जिससे या तो आजादी का निश्चित वचन मिले, वरना आत्मोत्सर्ग कर दें। सरकार पकड़े तो आमरण अनशन कर देह त्याग कर दें। अब सब गम्भीरता से सोचने लगे। साथियों में सलाह होने लगी। विनोबाजी से पूछा गया। महादेवभाई और किशोरलालभाई तो ऐसे अनशन का विरोध करते थे। बापू के साथ दलीलें चलती थीं, लेकिन विनोबाजी ने तो यह कह दिया कि बापू का विचार ही ठीक है। सब गम्भीर और सुन्न हो गये।

जब बम्बई के लिए बापू रवाना हुए थे, तब ऐसा ही लगता था कि अब बापू का लौटना कठिन है। बापू बा और महादेवभाई के साथ गये थे, लेकिन जब जेल से छूटकर लौटे तो बा और महादेवभाई का साथ छूट गया। उन्हें अकेले देखकर आश्रमवालों के हृदय विचलित हो गये। दुर्गाबहन की स्थिति का तो कहना ही क्या था। बापू को भी महादेवभाई तथा बा की कमी खटकती थी और जब कोई चीज इधर-उधर हो जाती तो कहते—"पहले क्या मजाल कि कोई चीज जहां रखी जाती थी वहां से इधर-उधर होती। महादेव के बिना अब गड़बड़ होती है।"

बापू ने धीरे-धीरे अपने रचनात्मक कामों को देखना-भालना शुरू कर दिया और वह काम में जुट गये। यही उनकी विशेषता थी कि जैसी भी परिस्थिति हो उसमें अपने काम को कैसे लाभ पहुंचायें, यह विचारकर काम में लग जाते। अपने पर सन्तुलन रखना उनकी विशेषता थी।

भणसाली भाई ने सेवाग्राम के खेत के लहसुन बहुत खाये। पेशाब में खून आया तो किसीने जाकर बापू से कह दिया। बापू ने भणसालीभाई को बुलाया और पूछा—"यह क्या है, भणसाली? इतना लहसुन खाते हो—पेशाब में खून आता है?" भणसालीभाई बोले—"बापू, शरीर में मांस और लोहा ही तो है। अगर पेशाब में लोहा गया तो क्या बड़ी बात है? उसके अलावा जायगा भी क्या?"

बापू ने किसी तरह उनका लहसुन छुड़ाया और दूध पीने को कहा। फिर तो वह ३२ रतल तक दूध पीने लगे। आश्रम के बच्चों ने कहा कि सारा दूध तो काका ही पी जाते हैं, हमें क्या मिले ? इसपर दूध छोड़ दिया और खली खाने लगे। एक दिन सोचा कि गाय के गोबर में भी तत्व होता है तो बस गोबर खाना शुरू कर दिया। आश्रम के लोग डरे कि कहीं इन्होंने सत्याग्रह तो शुरू नहीं कर दिया ! किसी तरह मना करके उनका गोबर खाना छुड़ाया।

भणसालीभाई गजब के हठयोगी हैं। कड़ाके की सर्दी में रात को गाय के कोठे में नंगे बदन पत्थर का सिरहाना बनाकर सोते थे। जेठ की दुपहरी में सिर पर कंबल लपेटकर कंकरों पर सो जाते थे। दोनों स्थितियों में काफी गहरी नींद लेते थे। शरीर पर कुछ असर ही नहीं होता था।

करो-या-मरो आन्दोलन के बीच चिमूर-आष्टी स्थान के कुछ उत्तेजित लोगों ने हिंसा के काम कर डाले। सरकार के सैनिकों ने उसका बड़ा भयानक बदला लिया, लोगों पर जुल्म ढाये। मां-बहनों की ऐसी लाज लूटी कि लोग स्तब्ध रह गये। बापू आगाखां-महल में बैठे थे। भणसालीभाई को पता चला तो बोले—"बहनों पर ऐसा जुल्म होता है, इससे तो अनशन करके मरना अच्छा। बस, पैदल चिमूर चल पड़े। वर्धा के लक्ष्मीनारायण मंदिर से लोगों ने उन्हें विदाई दी। ३-४ मील तो सब गये, लेकिन फिर उन्होंने सबको वापस कर दिया। केवल एक आदमी को साथ लिया। २० मील जाकर थककर पड़ गये। पुलिसवाले उठाकर सेवाग्राम में पटक गये। दूसरे दिन वह फिर चल पड़े। बस, १८-२० मील पैर घसीटते-घसीटते चलते और पुलिस वापस सेवाग्राम छोड़ आती। १४ रोज केवल हवा पर रहे—१८-२० मील पैदल चलते।

कमल ने मुंशीजी (श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी) को बुलाया। भणसालीभाई बोले—"मरना है तो बिना जल के एक मास में मर जाऊंगा, फिर जल लेकर दो मास जीकर सेवा लेने से क्या लाभ ? मुंशीजी ने समझाया कि काका हमें प्रचार करने का मौका दो। तब पानी पीना कबूल किया। १८-२० सेर पानी रोज पी जाते। लक्ष्मीनारायण मंदिर का तांबे का हंडा-भर पानी पीते थे। प्रभाकरजी नें खूब प्रेम से उनकी सेवा की। हड्डी का

ढांचा-भर रह गये। इसपर भी एनीमा तक नहीं लेते—नमक-नींबू शरीर में नीचे से भी गया तो उपवास टूट जायगा।

एक दिन मुझसे बोले—"मां, एक बात करोगी?" मैं डर गई, पता नहीं क्या बोलें। हां या ना कहना कठिन था। लेकिन वे खुद ही बोले कि एक लकड़ी के पट्टे पर कीलें गाड़कर ऊपर सुला दो। मैं तो 'हाय राम' कहकर भाग आई। मुंशीजी से कहा तो मुंशीजी ने भणसालीभाई से पूछा—"काका, आपने जानकीबहन से क्या कह दिया?" वे बोले—"हां, मैंने कहा था कि मुझे कीलों पर सुला दो।" मुंशीजी ने कहा—"आखिर यह गृहस्थों का घर है। वे ऐसा कैसे कर सकती हैं?" तो बोले—"फिर मुझे सड़क पर ले चलो।" अंत में मुंशीजी ने कहा—"काका, आज जमनालालजी नहीं हैं। जानकीबहन पर इतना संकट डालोगे क्या?" तब भणसालीभाई एकदम चुप!

सारा दिन कीर्तन-भजन होता। दस-दस रोज के बच्चों को गोद में लिये भी बहनों का तांता लगा रहता। एक रोज बोले कि मां मेरी जीभ-आंखें अंदर जाती हैं, सो मैं पागलपन से भी कुछ खाने को मांगूं तो मत देना। व्रत भंग हो जायगा। माताएं तो फूट-फूटकर रोती थीं कि ये तो मर जायंगे। आगे-पीछे स्त्री-बच्चे कोई नहीं, बस इसीका संतोष था। लेकिन यही सोच होता कि दो तोला गुड़ का पानी पिलाने से जी सकें तो मरना कैसे देखा जायगा। भणसालीभाई कहते—"पांच तत्व का शरीर है, हवा में हवा, आकाश में आकाश, जल में जल मिल जायगा—चिंता किस बात की?"

पुलिस का कड़ा पहरा था कि मर जायं तो हल्ला-गुल्ला न हो। अफसरों ने सरकार से इजाज़त ली कि मरेगा तो दवा देंगे। ५० दिन गुजरे, ५५ दिन गुजरे, लेकिन नहीं मरे तो पुलिसवाले बोले—"संतरे वगैरा खाते हैं, सब झूठी बातें बना रक्खी हैं।" हमने कहा—"यह उपासी खाना शुरू करेगा, तो रोकना भी मुश्किल है, कच्चा आटा घोलकर पी लेगा!"

अंत में सरकारी अफसरों ने माफी मांगी तब बोले कि "६३ दिन बाद उपवास छोड़ूंगा। जब उपवास छूटे तो आटा घोलकर देना।" गांव में डोंडी पिटी। डिप्टी कलक्टर भी आये। जब शरीर पर से उनकी चादर हटाई तो देखा कि सूंडी पेट से चिपक गई है। मुंह पर खून है, शरीर हड्डियों का ढांचा-

भर था। देखकर दंग रह गये। बोले—"हिन्दुस्तान के सिवाय यह शक्ति दुनिया के किसी भी हिस्से में देखने को नहीं मिलेगी।"

मकर-संक्रान्ति आई तो लोग तिल के लड्डू भेंट में दे जायं। बस, तिल के लड्डू ही खाने का काम। रोकना कठिन हो गया।

: ४० :

बापू-स्मरण

सन् १९२४ की बात है। दिल्ली में बापू ने २१ दिन का उपवास शुरू किया था। ८-१० दिन में ही काफी कमजोरी आ गई। बापू केवल पानी ही पीते थे। लोगों को चिंता हुई। २१ दिन कैसे निकालेंगे बापू ? अब तो भगवान ही मालिक है। महादेवभाई ने सोचा कि वर्धा से विनोबा को बुलवा लें तो बापू को आध्यात्मिक खुराक तो मिल ही सकती है। बड़ी आशा और विश्वास से उन्होंने वर्धा टेलीफोन किया। हम चार-पांच जने तुरन्त ही आश्रम गये और विनोबाजी से कहा कि दिल्ली से महादेवभाई का टेलीफोन आया है, बापू को काफी कमजोरी आ रही है, आपको दिल्ली बुलाया है।

विनोबाजी थोड़ी देर चुप रहे। फिर बोले—"बापू को कोई डर नहीं है। उनके पास तो भगवान हैं।" कुछ देर बाद अचानक उन्होंने पूछा—"मुझे बापू ने बुलाया है क्या ?"

हम सब चुप। वापस वर्धा आये और महादेवभाई को फोन किया कि विनोबा पूछते हैं—"बापू ने बुलाया है क्या ?" महादेवभाई विचार में पड़ गये। उन्होंने तो बापू से बिना पूछे ही विनोबा को बुलाने का फोन किया था। अब तो बापू से पूछना ही पड़ेगा। लेकिन क्या पता कि बापू इजाजत दें या नहीं ? इसी सोच-विचार में महादेवभाई बापू के पास गये और बोले—"बापू, हमने आपसे बिना पूछे विनोबा को बुलाने की हिम्मत की थी। एक तो प्रार्थना में बहुत-से लोग आते हैं और दूसरे आपको भी अच्छा लगेगा। तो विनोबा को बुला लें क्या ?"

बापू ने थोड़ी देर चुप रहकर तुरंत पूछा—"विनोबा आना चाहते हैं क्या ?"

अब देखिये—कैसी अन्तरात्मा की एक डोर, एक लगन, एक विचार।

बापू विनोवा के पास हैं और विनोवा बापू के पास। पर हम संसारी लोग आत्मा के इस बेतार-के-तार को क्या जानें। विनोवा की उपस्थिति बापू को कितनी सुखदाई थी ! लेकिन वह जानते थे कि विनोवा पास के सुरगांव नाम के गांव में सफाई का काम करते थे। ग्राम-सेवा करनेवालों से बापू अपने काम के लिए समय कैसे लेते ?

दोनों के संयम की चरम सीमा ही है न ! मेरी तो कल्पना के बाहर की बात थी।

वर्धा के लक्ष्मीनारायण-मंदिर में घी के दो दीपक चौबीसों घंटे चासते थे। यह याद नहीं पड़ता कि कैसे बन्द हुए, लेकिन बीसों वरस से चार बार आरती होती ही थी। बन्द मन्दिर में दीपक से धुआं होता था, पोशाक वगैरा पर धुएं का कालापन आ जाता था। तीन-चार बजे पुजारी उठते थे। गाय का घी दीपक में जलता था, लेकिन अब तो लकीर की फकीरी रह गई है।

एक बार बा की पुण्य-तिथि पर सेवाग्राम में मदालसा ने हिन्दुस्तान का नक्शा बनाया और उसके चारों तरफ बा की जितनी उमर थी उतने दीपक जलाये। फिर बापू को बुलाया। बापू ने आते ही कहा—"अरे मद्रु ! हिन्दुस्तान में गरीबों को तो खाने को तेल भी नहीं मिलता, और तू दीपक में घी जलाती है ?"

हर कार्य में दरिद्रनारायण की कितनी सेवा होती है, इसी आधार पर बापू उसको मापते थे।

एक बार बापू बिड़ला-हाउस में ठहरे हुए थे। वहां से उन्हें कहीं बाहर जाना था। सारा सामान बांधना शुरू हुआ। बापू के सामने एक बोर्ड रहता था, जिसपर सब भाषाओं की बारहखड़ी लिखी रहती थी। बापू ने कमल से कहा कि इसे खोलकर 'पैक' कर ले। कमल ने चारों कोनों के पेंच खोल लिए और उसे बांधकर रख दिया। बापू बोले—"पेंच ला।" वह वापस वहां गया—जाकर गलीचे पर बहुत खोज करने के बाद केवल तीन पेंच ही मिल पाये। बापू के साथ जो लोग रहे हैं, उन्हें मालूम है, कि बापू छोटी-छोटी चीजों का कितना ध्यान रखते थे। कमल घबराया। अब एक पेंच इस मोटे गलीचे में कहां खोजे। जाने का समय अलग हो रहा है। देखने लायक शकल हो गई

बाबू सा'ब की। पर बोले क्या ? लम्बा लेक्चर—उपदेश बापू से सुनना पड़ा कि देखो इसीलिए मैं वह पटिया खोलने के लिए दूसरों से मना करता था और तुमसे भी वही लापरवाही हुई। अब जहां जायंगे पटिया लगाने की दिक्कत आयगी। तूफान मच जायगा—बापू को पेंच चाहिए, पटिया लगानी है। मोटरें दौड़ेंगी एक पेंच लाने के लिए। चीज छोटी है—पर काम तो अड़ गया न ! असावधानी में शक्ति, समय, खर्च फिजूल जाता है। सावधानी बड़ी जरूरी है, आदि ! छोटी चीजों की बेकदरी बापू को पसन्द नहीं थी।

भंगी कॉलोनी से नवाखाली जाते समय जब सारा सामान बाहर निकाल लिया गया, तब बापू कमरों में गये और अलमारियों के कोने-कोने देखने लगे। मैंने पूछा—"बापूजी क्या कर रहे हैं ?" बोले—"अरे भाई, ये लड़कियां जल्दी में कुछ भूल गईं तो वहां मुसीबत उठानी पड़ेगी। अभी तो दो मिनट का काम है, लेकिन वहां रोज-रोज की दिक्कत हो जायगी।"

इतने व्यस्त होते हुए भी इन बातों में बापू पूरे गृहस्थ थे।

महान् विद्वान् परचुरे शास्त्री महारोग से दुःखी होकर सेवाग्राम आये। बापू से कहलाया—"मैं तो जीवन से दुखी हो गया, मर जाऊं तो सुख मिले।"

बापूजी ने आश्वासन दिया। आश्रम में अलग एक झोपड़ी बनवाई। हम लोगों को उसके आस-पास जाने से मना कर दिया। हमें भी कौन-सा शौक था कि हम वहां जाते। पर बापू रोज उन्हें धूप में सुलाते, उनकी मालिश करते, खाना खिलाते। बाद में तो प्रभाकरजी ने उनकी सेवा का भार ले लिया, लेकिन बापू हमेशा उनकी सेवा का विशेष ध्यान रखते थे। एक दिन सुना कि बापू वर्किंग कमेटी की महत्वपूर्ण चर्चा को छोड़कर परचुरे शास्त्री की सेवा में नियत समय पर पहुंच गये।

बापूजी की इस सेवा से न केवल परचुरे शास्त्री ठीक ही हो गये, बल्कि लोगों के हृदय का भय भी दूर हो गया।

इतना अधिक काम और समय इतना कम। इसलिए बापू एक-एक मिनट का सदुपयोग करते थे। बारडोली-सत्याग्रह के समय मैं जमनालाल-जी के साथ महात्माजी के दर्शन करने गई। उनके पास जाकर बैठे तो देखा—बापूजी चम्मच से कुछ खा रहे थे और साथ ही तकली भी कात रहे

थे। एक ओर आदमी पत्र पढ़कर सुनाता था और दूसरी ओर बापू महादेवभाई को पत्र लिखा रहे थे। ये चारों काम एक साथ करते हुए मैंने उन्हें देखा। इस बीच कस्तूरबा आ गईं और बोलीं—"कांति को बुखार आ गया है, उसे क्या दिया जाय ?" बापूजी ने कहा "अभी तो मिट्टी की गीली पट्टी करके उसके शरीर पर रख दो। मैं जब आऊंगा तब देख लूंगा।"

एक साथ इतने सारे काम करना और हर काम में पूरा ध्यान रखना तो कोई बापूजी से सीखे।

११।। बजे के लगभग बापूजी सोते थे। बारी-बारी से हम लोग उनकी पगथली में गाय का घी लगाते थे। बापू कुछ पढ़ते रहते और तभी नींद आ जाती। सोने के पहले कहते—१५ मिनट बाद उठा देना, कुछ काम करना है। हम लोग घड़ी की तरफ देखते—अभी तो १४ मिनट ही हुए हैं—बापू गहरी नींद में सोये हैं, एक मिनट बाद उठा देंगे। यह सोचते हैं कि बापू एकदम आंख खोल देते। घड़ी की तरफ देखकर पूछते, "१५ मिनट बाद उठाने को कहा था न—उठाया क्यों नहीं ?" हम कहते, "बापू, उठाने जा ही रहे थे कि आपने खुद आंखें खोल दीं।" बापू मुस्करा देते।

नींद पर उन्हें इतना काबू था, कि सोचेंगे उतनी ही देर सोयेंगे।

आश्रम की बहनों-लड़कियों को जब भी समय मिलता, बापू को घेर लेती थीं। एक दिन सुबह ९-१० बजे के करीब महादेवभाई कुछ खानगी कागज़ात की नकलें बापू को दिखाने आये। लड़कियां वहां हाजिर थी हीं। झोपड़ी में मुड़ गये, बोले, "पीछे आऊंगा।" साथ ही बोले—"अरे डाकनियों, बापू को जीने दोगी या नहीं ?"

इसी तरह सरदार पटेल भी बहुत मज़ाक करते थे। एक बार मुझे और मीराबेन को आते देखा तो विनोद में बोले—"आओ जोगमायाओं।" जमनालालजी से कहते—"जमनालालजी, इन जोगमायाओं से बापू का पीछा छुड़ाओ न ! यह तो पागलों का बाज़ार बढ़ता ही जा रहा है।"

एक रोज़ कमला ने बापू से कहा—"बापूजी, आप एक ही ब्लेड से इतनी दाढ़ियां बनाते हैं, यह भी तो हिंसा ही है, दाढ़ी में कितनी तकलीफ होती होगी।" बापू बोले—"हां भाई, मैं लोभी हूं न, सो एक ब्लेड को ज्यादा दिन चलाना चाहता हूं।" कमला ने कहा—"और बापूजी, आप

कांच भी नहीं रखते। देखिये न, एक जगह बाल छूट गय हैं।"बापू ने मज़ाक में कहा—"तुम लोग ही तो मेरा कांच हो, खड़ी-खड़ी बता देती हो। फिर कांच की क्या ज़रूरत है?"

कमरे में हँसी का फव्वारा छूट गया।

छोटी-छोटी चीज़ों की बापू जैसी सार-संभाल करते थे, वह देखते ही बनती थी। इस्तेमाल किया हुआ दातुन वह धोकर एक अलग टोकनी में डाल देते। सूखने के बाद वह अंगीठी जलाने के काम में आ जाता था। इसी तरह धोती की लांग जो अन्दर जाती है, उसे सिरे से तिकोना काट लेते और उससे गमछे का काम लेते। फटने पर वह रस छानने का कपड़ा बन जाता और जब उस काम के लायक भी नहीं रहता तो सिगड़ी जलाने के काम में आता था।

साबरमती में प्रार्थना हो रही थी। बापू आंख बन्द किये बैठे थे। इतने में एक सांप आया। लोगों में खलबली मची—"बापू, सांप!" 'बापू' शब्द सुनकर बापूजी ने क्षण-भर के लिए आंखें खोलीं, लेकिन सांप का नाम सुनते ही आंखें मींचकर ध्यानावस्थित बैठे रहे। प्रार्थना चलती रही। लोग भी बैठे ही रहे। सांप तो बेचारा अपने रास्ते जानेवाला था ही, सो चला गया। आश्रम में सांप मारने की मनाई थी, सो लोगों को भी आदत-सी पड़ गई थी। लंबे बांस की संडासी से सांप पकड़कर दूर डाल आते थे।

परंधाम में एक बार भाऊ पानसे लकड़ी के तख्ते पर खुले बदन सोये थे। पेट पर से सांप चढ़ा और कान तक आया। भाऊ को पता चल गया, लेकिन वह पत्थर की तरह स्तब्ध पड़े रहे। उन्होंने सोचा कि अगर ज़रा भी हिला तो इसने काटा। अंत में सांप कान के ऊपर होकर चला गया। सांप जाने के बाद तो भाऊ पसीने से तरबतर हो गये। दूसरे दिन विनोबा से यह बात उन्होंने कही तो उन्होंने कहा—"ऐसी स्थिति में मैं भी इस तरह बगैर हिले-डुले रह सकता, ऐसा मुझे नहीं लगता।"

लेकिन सांप-बिच्छुओं की उस दुनिया में भी लोग बिलकुल निर्भयता और सहजता से रहते थे।

बजाजवाड़ा, वर्धा में वर्किंग-कमेटी की बैठक हो रही थी। बापू सेवा-ग्राम में थे। जवाहरलालजी बापूजी से मिलने आये। बापू की कुटिया में

घुसते ही मज़ाक किया—"वापूजी, आपके पास आना, बैठना, बात करना कैसे हो?" वापू ने पूछा—"क्यों भाई ! क्या वात है ?" कस्तूरवा पास ही खड़ी थीं। बोलीं—"तमे लपण खाओ छोने!" मीराबेन भी वहीं थीं—तुरंत बोलीं—"हां वापू, आपके कपड़ों से भी लपण की गंध आती है।" अमतुल-बहन और लीलावती दोनों ने भी हां-में-हां मिलाई। वापू हंसते हुए बोले—"हां भाई, यह तो हिंसा हो गई। अब मेरा लहसुन खाना बंद करो।" बा ने कहा—"लेकिन लहसुन तो आपके ब्लड्प्रेशर की दवा है।" वापू बोले—वह दवा किस काम की, जिससे लोगों को कष्ट पहुंचे ?" थोड़े दिन तो लहसुन बन्द ही कर दिया।

वापू के कान तो वड़े-बड़े थे, पर नाक में गंध नहीं थी, और खानेवाले को खुशबू की आदत भी हो जाती है। मज़ाक करते हुए जवाहरलालजी वापू के पास जा बैठे और दोनों ज़ोरों से खिलखिलाकर हँसने लगे। गुरु-शिष्य दोनों के मानों कमल ही खिल पड़े हों। दोनों महापुरुषों में कितना प्रेम था ! इस बात को सोचती हूं तो जी आज भी गद्गद् हो जाता है।

: ४१ :

बापू का बलिदान

बापू ने जब फिर से रचनात्मक कामों की तरफ ध्यान दिया तब उनके सामने गो-सेवा-संघ के काम का प्रश्न भी आया। नये सिरे से फिर गो-सेवा-संघ का काम शुरू हुआ। जमनालालजी ने अपने रहते जो गोरस-भंडार शुरू करवा दिया था, वह चल रहा था। उसमें गायों का मनों दूध आता और बिकता रहता था। ग्राम-सेवा-मंडल, बच्छराज-खेती तथा लक्ष्मीनारायण-मन्दिर की डेरियां भी चल रही थीं। व्यक्तिगत रूप से ग्वाले भी गायें पालने लगे थे। इस तरह वर्धा में गायों के काम की बढ़ती हो रही थी, पर इस काम को बाहर फैलाने और उसे देश व्यापी बनाने के लिए, बापूजी चाहते थे कि मैं उसमें लग जाऊं। मैं बापूजी के कहने से इधर-उधर जाने लगी। गो-सेवा-सम्मेलन राजेन्द्रबाबू की अध्यक्षता में बुलाया गया। वह भी इस कार्य में रस लेने लगे और उन्होंने बिहार में काम शुरू करने की दृष्टि से सम्मेलन बुलाया। वहां काम शुरू हुआ। मैं आगरा, अमृतसर, पटना, भागलपुर, सीकर, कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानों में गई और काम बढ़ाने का यथासम्भव प्रयत्न करती रही।

शांतिकुमार मुरारजी की बापूजी तथा जमनालालजी पर श्रद्धा तो थी ही। वह गो-सेवा का काम करने लगे और संघ के कुछ दिन मंत्री भी रहे। उनका वर्धा आना-जाना होता था और वे बड़े प्रेम और श्रद्धा से काम करते थे।

राधाकृष्ण इस काम में काफी रस लेता था और गो-सेवा-संघ के काम की पुनर्रचना में उसका बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। यों गो-सेवा-संघ का काम तो वह करता ही था, पर दूसरे कामों की जिम्मेदारी भी उसपर इन दिनों थी और खासकर ग्राम-सेवा-मंडल की जिम्मेदारी रहने से रिषभदासजी

को फिर मंत्री बनाया गया। वह मेरे साथ कई जगह गये और काम को बढ़ाने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस महान कार्य के लिए जो शक्ति चाहिए थी, उसकी मैं तथा मेरे साथी अपनेमें कमी पाते और इस काम की विशेष प्रगति रुकी रही। मैं कुछ दिन इस काम में लगी रही; पर न मालूम क्यों, उत्साह कम होता गया और बापूजी ने जितनी अपेक्षा रखी थी, उसमें भी असफलता रही, इसका मुझे भी रंज रहा। वह भी मुझे 'कामचोर' कहा करते थे। धीरे-धीरे मुझे उनके सामने जाने में संकोच होने लगा। पर मैं करती भी क्या ! मुझे यह भार भारी पड़ा, या यों कहो, मेरा कोई ठीक-ठीक उपयोग न ले सका।

दिल्ली की भंगी-बस्ती में जब बापूजी रहते थे तब वहां एक बार मैं गई। बापूजी उन दिनों थकान के कारण चार घंटे मौन रहते थे। लेकिन मुझे देखते ही वह एकदम प्रेमवश बोल उठे—"चोर आ गई, चोर आ गई।" यद्यपि बापू ने यह विनोद में कहा था, लेकिन मैं उनकी हँसी में भाग न ले सकी, क्योंकि मैं जानती थी कि इसके लिए उनके मन में कितना दर्द है।

जिस दिन बापू के गोली लगने की खबर आई उस दिन सवेरे राजेन्द्र-बाबू वर्धा आये थे। सब लोग खबर मिलने पर राजेन्द्रबाबू के पास इकट्ठे हुए। प्रार्थना हुई। राजेन्द्रबाबू ने दिल्ली जाने का तय किया, पर सबकी राय यह रही कि रात को जाना ठीक न रहेगा। वह रुक गये। लेकिन रात को एक बजे जवाहरलालजी का फोन आया कि उन्हें आना ही चाहिए। उनके लिए विमान की व्यवस्था की गई। उसमें मेरे लिए भी सीट रखी गई। जाने का मेरा मन तो था ही, लेकिन मैंने सोचा कि जब आश्रमवालों के लिए रोक है तब मैं ही कैसे जाऊं ? बापूजी के गोली लगने की खबर से मन पर विचित्र तरह का असर हुआ। पहले तो ऐसा लगा कि ऐसा क्या हुआ है। फिर यह खयाल आया कि देखो, बापूजी ने जो मुझसे आशा रखी थी वह यों ही रही। उनके सामने मैं क्या मुंह लेकर जाऊंगी। मेरे मन में यही विचार आया कि बापूजी यदि आंख खोलकर देखेंगे और पूछेंगे कि काम छोड़कर क्यों आई, तब मैं क्या कहूंगी ? अब जब उनकी आंख ही मुंद गई तो मेरा उनके सामने जाना धोखा देना है। यह सोचकर मैं रुक गई।

रामकृष्ण दिल्ली से वापस आया तो बोला कि मां, तू क्यों रह गई ? तुझे तो आना चाहिए था। उसके कहने पर मुझे भी लगा कि अच्छा होता मैं आखिरी दर्शन तो कर लेती। अब पछताने लगी। मेरे सामने ही तो हवाई जहाज गया था और दूसरे दिन बाबूजी वापस भी आ गये। मैं भी आ जाती। सचमुच मैंने बहुत-कुछ खोया, ऐसा बाद में लगा।

बापूजी के जाने से देश में दुःख की लहर फैल गई और कई लोगों पर कई तरह से आघात हुए। हमारे यहां मदालसा पर बहुत ही असर पड़ा। उसने १२ रोज तक अन्न ही छोड़ दिया। उपनिषद् की प्रार्थना के कागज छपाकर वह घर-घर जाकर कहती—"अरे, अब तो जागो, बापू को खोकर भी क्या सोते रहोगे ?" उसकी हालत विक्षिप्त-जैसी हो गई थी। हम सबको बड़ी चिन्ता हो गई। श्रीमन्नारायणजी पर काम का इतना बोझ रहते भी उनका धीरज अपार था। इधर बापूजी के जाने का दुःख तो था ही, उधर मदालसा की यह हालत। हमें यह डर था कि विक्षिप्त दशा में वह कब क्या कर बैठेगी ? होठों में खून आ रहा था। मुंह में छाले पड़ गये थे।

हमारे घर के सभी लोग ऐसा महसूस करने लगे कि बापू के जाने से हमारे ऊपर से छत्रछाया उठ गई। बच्चे बापूजी के जाने से अपनेको बिना बाप का मानने लगे, क्योंकि जमनालालजी के जाने के बाद बापू का हाथ उनके सिर पर था।

जब अखबारवालों ने पूछा कि बापूजी के विषय में कुछ कहिये तब मैंने कहा—"हम आज बिना बाप के हो गये।" यह बात मैंने गोपुरी में कही। उधर वैसे ही शब्द कमलनयन ने बम्बई में कहे।

बापूजी के जाने का मेरे मन पर पहले तो कम ही असर हुआ था, पर धीरे-धीरे जैसे-जैसे दिन बीतने लगे, वह असर बढ़ने लगा और मैं उनके अंतिम दर्शन से वंचित रही, इसका रंज मन में रहने लगा। जब उनकी भस्मी बदरी, केदार, गंगोत्री ले जाने की बात आई तब मेरे मन में आया कि मैं भी उस पार्टी के साथ जा सकूं, तो अच्छा। पर मन में फिर संकोच हुआ कि भस्मी के साथ जानेवालों की संख्या सीमित है। मेरे जाने से असुविधा होगी। पर मैंने आखिर डरते-डरते ब्रजकृष्णजी चांदीवाला से पूछा कि क्या मैं जा सकती हूं। वह बदरी-केदार-यात्रा की टोली के अगुआ

थे। वह बोले कि पूछने का सवाल ही क्या है, आप मालिक हैं। यह सुनकर मुझे सन्तोष हुआ। मैंने सोचा कि बापूजी को गोली लगने के दिन जो संयम किया था, उसका प्रत्यक्ष फल मिल रहा है। मुझे ऐसा मालूम होने लगा, मानो बापूजी हाथ पकड़कर यात्रा करवा रहे हैं। मुझे आशा कहां थी कि मैं गंगोत्री, यमुनोत्री, बदरी-केदार की कठिन यात्रा कर सकूंगी। ऐसी स्थिति में यह योग मेरे लिए अपूर्व था। पर मैं यह जानती थी कि इस तरह भस्मी को बड़े-बड़े तीर्थों में ले जाना भी आडम्बर है। पर लोक-भावना थी कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भस्मी ले जाना बापू को पसन्द न होने पर भी यह सब क्रिया-कांड अपने-आप होता गया। बापूजी की अस्थियों को स्पेशल ट्रेन से प्रयाग ले जाया गया था, तब भी मैं रुक गई थी। कमलनयन ही गया था। मेरे मन पर उस समय भी सिद्धान्त की बात का ही असर था। पर इस बार तो मुझे ऐसा लगा कि मैं इस मौके को खो दूंगी, तो फिर कब मिलेगा। बापू के साथ मेरा उत्तरकाशी का कार्यक्रम था, लेकिन वह रह गया था। अब मुझे ऐसा ही लगा कि मैं बापू के साथ ही जा रही हूं। यद्यपि बापू की भस्मी जा रही थी, लेकिन बापू से भी ज्यादा सम्मान उसका हो रहा था। टेहरी राज्य की ओर से बड़ी अच्छी व्यवस्था थी। झंडे लेकर लोग आगे चलते थे। बाजे बजाते हुए भस्मी ले जाई जा रही थी। कार्यक्रम निश्चित रहता था। जगह-जगह स्वागत होता जाता था। छोटे-बड़े, धनी-गरीब, स्त्री-पुरुष, विद्वान-अनपढ़, साधु-संन्यासी सभी भस्मी को प्रणाम करने और श्रद्धा भेंट करने आते थे। ऐसे-ऐसे साधु भी आये, जो कभी अपनी गद्दी से नीचे उतरना और किसीके सामने जाना छोटापन समझते थे। लेकिन बापू ने सबके हृदय में जो स्थान पाया था, वह अवर्णनीय था। हम लोगों की सुख-सुविधा की भी बहुत अच्छी व्यवस्था थी और गांधीजी के भक्त समझकर हमारे प्रति आदर प्रकट किया जाता था।

: ४२ :

बजाजवाड़ी के तत्त्वज्ञानी

यों तो जमनालालजी के स्वर्गवास के बाद बजाजवाड़ी की चहल-पहल कुछ अंशों में कम हो गई थी, फिर भी जबतक बापू सेवाग्राम में थे तबतक आने-जानेवालों का तांता लगा ही रहता था। बापूजी के जाने के बाद लोगों का आना-जाना कम हो गया। लेकिन किशोरलालभाई के बजाज-वाड़ी में बसने से एक तरह से वह उनकी बस्ती बन गई थी और वहां 'हरिजन' के काम के लिए कुछ काम करनेवाले रहते थे। इससे तथा किशोरलालभाई से मिलने-जुलने को आनेवालों से कुछ चहल-पहल रहती थी। जब मेरा मन न लगता तब उनके पास चली जाती। जब भी जाती वह और गोमतीबहन काम में लगे हुए दीखते। उन दोनों का शरीर तो हड्डियों का ढांचा मात्र था। बीमारी लगी ही रहती थी। कहते हैं, बीमारी से मनुष्य चिड़चिड़ा हो जाता है, पर किशोरीलालभाई तो इतनी तकलीफ भुगतकर भी सदा हँसमुख ही रहे। मैं जाती तो काम छोड़कर देखने लगते और कहते—"केम न बोलवानुं प्रण कर्युं छे!" मतलब यह कि मैं उनसे बात करूं। मुझे डर लगता था कि उनसे बात करने से उनकी दमे की तकलीफ बढ़ेगी। वे जैसे महान् तत्त्वज्ञानी, विचारक और सिद्ध पुरुष थे, वैसे ही व्यावहारिक भी थे। इसलिए उनसे व्यवहार की सलाह लेने को सभी आते थे। उनको थकान होगी, यह जानकर भी उनकी सलाह लेना सबको जरूरी मालूम देता था। मुझे वर्धा बजाजवाड़ी में अकेले रहते देखकर एक बार उन्होंने राम से कहा—"रामकृष्ण, जानकीबहन को यहां रखने की अपेक्षा या तो किसी काम में लगाओ या अपने पास रखो, क्योंकि इस तरह छोटे-छोटे कामों में उलझे रहना अनुचित है।" रामकृष्ण ने कहा कि तुम बम्बई आ जाओ, पर मैं बम्बई चली भी जाती तो मेरा मन थोड़े ही लगता। पहले

भी वह तथा घर के लोग बम्बई आने को कहते ही रहते थे।

बजाजवाड़ी में बच्चों का खेलने का मैदान था। रामकृष्ण और उसके साथी वहां खेलते थे। वह जब जेल में था तब वहां से लिखता रहता था कि मैदान को अच्छा बनाया जाय। रोलर घुमाकर मैदान पक्का कर दिया गया था। पर जब बंगाल के अकाल के बाद देश को अनाज अधिक उपजाने की जरूरत पड़ी तब मुझे लगा कि इस जमीन का कुछ उपयोग होना चाहिए। उन दिनों किशोरलालभाई बजाजवाड़ी में घूम रहे थे। मैंने उनसे कहा—"इस मैदान में भी अनाज बोना चाहती हूं। पर राम नाराज होगा। यह जमीन पक्की करने में काफी खर्च हुआ है। अब इसे तोड़ने में अधिक खर्च होगा। क्या किया जाय ?" वह बोले, "करो हिम्मत।" मैंने हिम्मत करके हल चलवाया और वहां मूंगफली की काफी अच्छी फसल हुई।

मशरूवाला-कुटुम्ब से हमारे कुटुम्ब की आत्मीयता पहले से ही थी। जमनालालजी का व्यापार में भी उनके कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध था। किशोरलालभाई के त्याग से वे बहुत प्रभावित थे। वे हमेशा कहते कि देखो, ये कितने त्यागी, मितव्ययी, तपस्वी और ज्ञानी हैं। इनका शरीर इतना कमजोर है, फिर भी किसीसे सेवा लेने की बजाय देते ही हैं और किसीके भी सुख-दुःख में पहुंच जाते हैं।

गोमतीबहन और मैं तो साबरमती, विलेपारले तथा सेवाग्राम में साथ-साथ रहे थे। उनका बजाजवाड़ी में रहना सब तरह से अच्छा लगता था और यही जी चाहता था कि वे हमेशा बजाजवाड़ी में रहें।

जब बम्बई में किशोरलालभाई के स्वर्गवास का फोन आया तब मैं हक्की-बक्की रह गई। गाड़ी छूटने में एक घण्टे की देर थी। मैंने तैयारी कर ली, पर गाड़ी पर पहुंचा कैसे जाय। रामकृष्ण आया तब आधा घण्टा रह गया था। रेल पकड़ना तो मुश्किल था। अब क्या किया जाय ? मैं तो किशोरलालभाई के जाने की खबर सुनने के बाद बम्बई में रह कैसे सकती थी। मेरे सामने यही दृश्य आने लगा कि गोमतीबहन की रात कैसे कटेगी। मैं जल्दी-से-जल्दी वर्धा पहुंचना चाहती थी। कैसे पहुंचूं ? आखिर विमान की बात सूझी। फोन से पूछने पर मालूम हुआ कि जगह भर गई है। शायद समय पर यदि कोई व्यक्ति न आये तो जगह मिल सकती है। यों तो विमान

में जाने का खर्च बरदाश्त करने की हिम्मत बहुत कम पड़ती, लेकिन आज तो मुझे वर्धा ही सूझ रहा था। मैं और रामकृष्ण तो थे ही, नीलूभाई के बहनोई भी थे। इस प्रकार तीन जानेवाले थे। जब राम ने पूछा कि अगर जगह एक ही मिले तो कौन जायगा? मैंने कहा—"मैं तो जाऊंगी ही।" हम विमान पर गये। संयोग से वहां तीन जगहें खाली मिल गईं। हम सुबह ५ बजे बजाजवाड़ी पहुंचे।

उस समय किशोरलालभाई को माथे के नीचे तकिए का सहारा देकर सुलाया था। गले में फूल और सूत की मालाएं पहनाई गई थीं। वह गाढ़ी निद्रा में सोये हुए लग रहे थे। चेहरे पर अपूर्व शान्ति थी। गीता का पाठ हो रहा था। वातावरण गम्भीर और शान्त था।

सिरहाने गोमतीबहन बैठी थीं, मानो करुणा की मूर्त्ति हों। आंखों से आंसू वह रहे थे। आंखें सूज गई थीं, पर हिम्मत और धीरज से वह इस दुःसह दुःख को सहन कर रही थीं। उन्होंने जीवन-भर किशोरलालभाई में लीन होने का प्रयत्न किया था। अब उनका इस तरह से चले जाना लोगों को भी असह्य था, तो फिर गोमतीबहन की तो बात ही क्या थी!

किशोरलालभाई बीमार ही रहते थे। कई बार तो उन्हें सांस लेने में भी कठिनाई होती थी। लेकिन आज जैसे उनकी सारी तकलीफें दूर हो गई हों। शांति से सोये हुए मालूम देते थे। श्रीकृष्णदास जाजू जैसे वैरागी भी किशोरलालभाई के जाने से विह्वल हो गये।

उस समय ऐसा लगता था मानो किसी बड़े हवन या पूजन की तैयारी हो रही हो। अर्थी के साथ महिलाश्रम की लड़कियां, बहनें तथा हजारों लोग थे। गोमतीबहन भी साथ गईं। करीब दस बजे गोपुरी में जमनालालजी की समाधि के पास दाह-क्रिया हुई। दोनों में भाई-जैसा प्रेम और मैत्री थी। जाने के बाद दोनों की दाह-क्रिया भी पास-पास हुई।

बाहर के काफी लोग थे, क्योंकि किशोरलालभाई के मित्र और आत्मीय बहुत अधिक थे। उनको गोमतीबहन स्वयं अपने हाथ से चाय बनाकर पिलातीं। पीनेवालों को संकोच तो होता था, पर इलाज भी क्या था। अतिथि-सत्कार तो गोमतीबहन के स्वभाव में ही समाया हुआ था।

हम सबकी यही इच्छा थी कि गोमतीबहन वर्धा में ही रहें, पर वह

बारडोली चली गईं और उनके जाने से वजाजवाड़ी की चहल-पहल और भी कम हो गई।

किशोरलालभाई के तत्त्व-ज्ञानपूर्ण लेखों पर जमनालालजी की बड़ी श्रद्धा थी। एक बार 'नवजीवन' में उनका अच्छा लेख देखकर उन्होंने मुझसे कहा कि, "तू पढ़ लेना, किशोरलालभाई ने लिखा है।" मैंने "अच्छा" तो कह दिया। फिर जब उन्होंने पूछा कि "लेख पढ़ लिया ?" तब मैंने डरते डरते कहा, "कि उनके तो दमे की बीमारी है, उनके लेख में दमे के जंतु होंगे।" तब उनको बहुत आश्चर्य हुआ और हँसी भी आई। वह बोले, "अरे मूरख, कहां तो लेख लिखा गया, कहां छपा, उसमें इस तरह से कहीं जंतु लगते हैं ? ऐसे डरने से आदमी का जीना हो लिया !" इतने पर भी वह लेख बहुत हिम्मत करके ही पढ़ा।

: ४३ :

विनोबा के यज्ञ में

विनोवाजी को पहले-पहल मैंने सावरमती में देखा। वह तथा उनके भाई वालकोवाजी दिनभर गढ़े आदि खोदते रहते। हमने सुन रक्खा था कि वह श्रम करके कम-से-कम में, आने-दो आने में खर्च चलाते थे। वह बोलते कम थे। गीता का वर्ग लेते थे। उनके वर्ग में स्त्रियां भी जाती थीं। पढ़ाते समय समझाते वहुत अच्छा थे। समय के बड़े पावन्द थे। वर्ग में अगर कोई विद्यार्थी एक मिनट भी देर से पहुंचता तो उसे वर्ग के वाहर खड़ा रहना पड़ता। वह पढ़ाते समय इतने जोर से बोलते कि स्वयं पसीना-पसीना हो जाते। जब गीता का वर्ग शुरू करने की वात चली, तव उन्होंने पढ़ने की इच्छा रखनेवाले विद्यार्थियों की योग्यता की जांच करने के लिए एक-एक को वुलाकर सबसे गीता के पांचवें अध्याय का नौवां श्लोक पढ़ने के लिए कहा। मैं भी उनमें थी। आगे चलकर मालूम हुआ कि यह श्लोक गीता में सवसे ज्यादा संयुक्ताक्षरवाला है।

विनोवाजी तथा उनके दोनों भाई वालब्रह्मचारी हैं। विनोबाजी विद्वान् तो हैं ही, इसलिए उनका हम लोगों पर वहुत प्रभाव था और हमारी उनके प्रति श्रद्धा भी खूब थी। लेकिन उनसे बोलने की हिम्मत किसकी हो, क्योंकि वह बहुत कम वोलते थे। मेरे मन पर भी उनका प्रभाव था। मैं सोचती थी कि मेरे बच्चे भी उनके जैसे ही वनें। एक दिन जब जमनालालजी ने मुझसे पूछा कि मैं अपने बच्चों को क्या बनाना चाहती हूं तो मैंने कह दिया कि विनोबा-जैसा फकीर वनाना चाहती हूं। मैंने तो ये शब्द भावनावश कह दिये थे, पर जमनालालजी तो उनके गंभीर अर्थ को समझते थे और यह भी जानते थे कि यह अपने हाथ की वात थोड़े ही है। उन्होंने विनोवाजी से कहा, "शब्द तो बड़े-बड़े सीख गई है, पर उसका अर्थ भी जानती है ?"

मैं यही सोचती थी कि मेरे बच्चे भीष्म के समान ब्रह्मचारी और विद्वान् बनें। शादी-ब्याह तो सब करते हैं, लेकिन इससे बचने में ही विशेषता है। इसकी बच्चों के सामने चर्चा चलती। एक बार कमलनयन मज़ाक में बोला, "तू तो नो बरस की विवाह कर लियो, म्हांने फकीर बणाने में तने के जोर आवे ?" हमारे परिवार में तीन पीढ़ी के बाद बच्चे हुए थे। उनपर सबका लाड़-प्यार रहना स्वाभाविक था। फिर भी मैंने भावना और श्रद्धावश बच्चों को विनोबाजी के पास सीखने के लिए छोड़ दिया। केवल लड़के ही क्या, पन्द्रह-पन्द्रह बरस की लड़कियों को भी उनके हवाले कर दिया। जहां विनोबाजी के आश्रम में लड़कों का रहना कठिन था, वहां लड़कियों को भी रखना आसान थोड़े ही था। विनोबाजी के लिए लड़के और लड़की समान ही थे। सबसे समान परिश्रम कराते थे।

साबरमती में उनके प्रति जो श्रद्धा पैदा हुई थी, वह वर्धा में उनका सम्पर्क बढ़ने पर बढ़ती ही गई। जमनालालजी और बापू के चले जाने पर जो रीतापन अनुभव हुआ उससे विनोबाजी के और निकट जाना आवश्यक हो गया। मैं उनके साथ अनेक स्थलों पर घूमती रही। विनोबाजी का खान-पान, रहन-सहन, चलना-फिरना सब मुझे मनभाता लगता है। उनके साथ रहने में मुझे जीवन की सार्थकता महसूस होती है।

एक बार मैंने सपने में देखा कि मुझे मेरा स्वर्गीय छोटा भाई हाथ के झाले देकर बुला रहा है। जागने पर मैं उस सपने को भुला न सकी। खादी का कुरता पहने, सफेद टोपी लगाये स्वर्गीय भाई का मुझे 'बाई आओ, बाई आओ' कहकर बुलाना ऐसा लगा, मानो अब मृत्यु का बुलावा आ गया है। मेरे मन में एक प्रकार का वहम घुस गया कि मैं अब बारह महीने में मर जाऊंगी। मैंने तय किया कि जो हो, बारह महीने तक विनोबाजी के साथ ही रहना चाहिए। अगर मैं मर जाऊं तो उनकी उपस्थिति में मरूं। इस तरह मैं विनोबाजी के साथ बारह महीने रही। बारह महीने पूरे होने पर मुझे विश्वास हो गया कि अब मैं एक बार तो बच ही गई।

शादी के बाद जब ओम् लाल-पीले कपड़े पहनकर विनोबाजी को नमस्कार करने गई तब वह बोले, "आओ होलिकाजी।" मैंने कहा, "यह शादी के बाद आई है। आपने इसे होलिका कैसे कहा ?" बोले, "लाल रंग

तो होलिका का है।" मैंने पूछा, "फिर अच्छा रंग कौन-सा है ?" उन्होंने कहा, "हरा रंग अच्छा, क्योंकि इसमें सृष्टि का स्वाभाविक सौन्दर्य भरा है।" मुझे बात जंच गई। मैंने अपने तकली पर कते सूत के ढाई गज लम्बे दुपट्टे बनवाये। चालीस बने। उन्हें मैंने हरा रंगवाया और बापूजी के भस्मी-प्रवाह के दिन, यानी बारह फरवरी को, जिस दिन पवनार में मेला लगता है, मैंने एक-एक दुपट्टा विनोबाजी तथा तुकड़ोजी को भेंट किया। विनोबाजी ने उस हरे दुपट्टे को दुपहरी की धूप में सिर पर ओढ़ लिया। जब मैंने तुकड़ोजी से उस दुपट्टे के हरे रंग तथा तकली के सूत का इतिहास बतलाया तो उन्होंने उस दुपट्टे को गले में लपेट लिया। विनोबाजी ने तो अपनी सर्वोदय-यात्रा तथा तेलंगाना की यात्रा में उस दुपट्टे का अच्छी तरह से उपयोग किया। मुझे ऐसा लगता है कि तकली से फुरसत में कते सूत, विनोबाजी के सुझाये रंग और मेरे प्रेम से भेंट करने के कारण उस दुपट्टे ने यह स्थान पाया। आज भी विनोबाजी उसका उपयोग भूदान-यात्रा में करते हैं। महादेवीताई ने फिर तो विनोबाजी की चद्दर आदि हरे रंग के ही रंगा लिये।

एक बार जमनालालजी ने विनोबाजी से चर्चा की थी कि राम-लक्ष्मण की तो सब पूजा करते हैं, पर तपश्चर्या तो भरत ने ही ज्यादा की थी। हर जगह मन्दिर भी राम के ही देखने में आते हैं। उन्होंने कहा कि मन्दिर तो क्या बनेगा; लेकिन अपने मन्दिर में भरत की मूर्त्ति रक्खी जाय तो अच्छा। इसके कुछ दिनों बाद जमनालालजी जेल चले गये। पवनार में खुदाई के समय मूर्त्तियां निकलती रहती थीं। विनोबाजी गढ़ा खोद रहे थे तो वहां भरत-भेंट की मूर्त्ति मिल गई। विनोबाजी को जमनालालजी की इच्छा स्मरण हो आई। उन्होंने वहां एक छोटे-से मकान में उस मूर्त्ति की स्थापना की और खुद वहां पाठ करने लगे। पाठ इतने जोर से करते कि पसीने में तर हो जाते। पाठ के समय ऐसे तन्मय होकर बोलते कि उस अद्भुत दृश्य को देखने के लिए गांव तथा आसपास तक के लोग इकट्ठे हो जाते। जैसे विनोबाजी का यह प्रयोग चल रहा था, वैसे ही पवनार में कांचन-मुक्ति का भी वे प्रयोग कर रहे थे। वे चाहते थे कि संस्थाएं परावलंबन से छूटें, परिश्रम पर ही उनका खर्च चले। पेट में फोड़ा (अल्सर) हो जाने से उन्होंने

परिश्रम करके अपना स्वास्थ्य ठीक करने का निश्चय किया। उनका प्रवास के लिए मन कम था। पर जब हैदराबाद के सर्वोदय-सम्मेलन में उनका हाजिर रहना कार्यकर्ताओं को आवश्यक मालूम दिया तब उन्होंने वहां जाने का निर्णय किया। इस तरह की यात्राएं करने की उन्हें पहले से ही रुचि थी।

विनोबाजी ने वर्धावासियों से ८-३-५१ को विदा ली। लक्ष्मीनारायण-मन्दिर में प्रार्थना के बाद विदाई का भाषण हुआ। उसमें उन्होंने कहा—"सम्भव है, हैदराबाद से आगे भी बढ़ूं। इसलिए यह विदाई आखिरी भी हो सकती है।" वह ऐसी गम्भीरता के साथ बोले, मानो वह आखिरी विदाई हो रही हो। इसलिए वह प्रसंग वर्धावासियों के लिए राम-वनवास जैसा ही लगा।

मैं उनका विदाई का भाषण सुन अपने-आपको रोक न सकी। मैंने उनसे कहा, "जैसे आपको जाने का अधिकार है, वैसे ही हमको लाने का भी है। भरत की तरह हम लोग आपको वापस लिवाने आ सकते हैं। हम विमान में भी उड़ा ला सकते हैं।" मैं पहले पड़ाव तक उनके साथ गई। उस दिन चौदह मील पर पड़ाव था। उनके हैदराबाद पहुंचने के पहले ही मैं ७ मील के मुकाम पर पहुंची। मैं जब उनके साथ चलती हूं तब वह प्रति घंटा साढ़े तीन मील की चाल चलते हैं। लेकिन उन दिनों उनकी चाल पांच मील प्रति घंटा हो गई थी। उस दिन सात मील ही चलना था, इसलिए साढ़ेचार मील की रफ्तार से चले। इससे मैं एकदम थक गई। पड़ाव पर पहुंचते ही बांस के टट्टे की बनी झोंपड़ी में जाकर सो गई। उधर से धूप तप रही थी। उठकर ठंडे पानी से नहाई। कपड़े धोकर सुखा दिये। उस दिन रसोड़े में पूरणपोली और भजिये बने थे। ये पक्वान्न स्वाद लगने से ज्यादा खाने में आयेंगे, इस डर से मैं घर से लाई हुई बासी पूड़ियां ही खाकर सो गई। उससे बुखार आ गया। महावीरप्रसादजी पोद्दार सम्मेलन में आये हुए थे। उनके प्राकृतिक इलाज से कुछ दिनों में तबीयत तो ठीक हुई, पर सर्वोदय-सम्मेलन में विशेष हिस्सा न ले सकी और तबीयत ठीक न होने से विनोबाजी के साथ तेलंगाना भी न जा सकी। तेलंगाना-यात्रा में मदालसा हठ करके चली ही गई। हैदराबाद से लौटते समय भूदान-यज्ञ प्रारम्भ हो

गया था। विनोबाजी मध्यप्रदेश में भी आये तो वहां भी वह काम चला। शुरू से ही विनोबाजी का प्रत्येक काम मुझे अच्छा लगता रहा। इसलिए यह भी अच्छा लगा। पर यह काम इतना बड़ा है, यह मैं क्या जानूं। चांडिल-सर्वोदय-सम्मेलन में गई तब वहां का उत्साह और वातावरण ही कुछ दूसरा दिखाई दिया। सबमें उत्साह था और सबको ऐसा लग रहा था कि इस यज्ञ में सबको भाग लेना चाहिए। राजेन्द्रबाबू का भाषण बहुत प्रभावशाली हुआ, लेकिन विनोबाजी का भाषण तो अद्‌भुत था। सबकी चेतना को उसने जगा दिया। बीच के समय में स्त्रियों का सम्मेलन था। निर्मला के कहने से मैं अध्यक्ष बन गई और मैंने बहनों से कांचन-मुक्ति के लिए अपील की कि वे अब जेवर छोड़ दें।

एक बंगाली लड़की ने अंगूठी लाकर दी। विनोबाजी आ गये थे। मैंने वह अंगूठी उनकी अंगुली में पहना दी। फिर बहुत-सी बहनें एक-एक करके जेवर लाने लगीं। एक बहन ने मंगल-सूत्र भेजा। मैंने विनोबाजी के गले में पहनाया तो वह दाढ़ी में उलझ गया। सब हँसने लगे। कइयों को तो यह बात अचरजभरी लगी कि इतने गम्भीर सन्त से विनोद करने की हिम्मत भी किसीकी हो सकती है। जयप्रकाशजी ने कहा कि विनोबाजी से भी आप इतना मज़ाक कर लेती हैं! वहां करीब २८ तोला सोना इकट्ठा हुआ। मैंने कहा कि बहनों की तो गायों पर ही भक्ति होती है, इसलिए इसे गो-सेवा में ही खर्च किया जाय। वह बोले कि भूदान की जमीन में कुओं की जरूरत तो होगी ही, इसलिए उससे गाय और खेती दोनों को लाभ होगा।

: ४४ :

कूप-दान

मैं चांडिल-सम्मेलन के बाद बिहार में रह गई और घर-घर जाकर मां-बहनों से कुंओं का दान मांगने लगी। माताएं धार्मिक भावनावाली होती हैं। उनकी भावना को चाहे जिस ओर मोड़ा जा सकता है। चाहिए केवल उनकी भावना का ठीक-ठीक उपयोग करनेवाला। समय और स्थान का भी भान भूली हुई फिरती थी। गयाजी में मेरी कोई विशेष जान-पहचान थोड़े ही थी। घर-घर बहनों के पास जेठ-बैसाख की धूप में भी घूमती। तीन-तीन, चार-चार मंजिल पर चढ़ती और अपनी बात समझाती। आज-कल मांगनेवालों से कौन खुश होता है, पर मुझे तो धुन लगी हुई थी। मेरे मन में विचार आया कि एकसौ आठ कुएं हों। सूत की एक लटी में तारों की यही संख्या होती है। पहले महीने में सिलसिला थोड़ा ही जमा। निराशा-सी होने लगी। मन डगमगाने लगा कि एकसौ आठ की जगह आठ भी हो जायं तो बड़ी बात है। जब मैं कहती कि गायों के लिए पानी का कष्ट है तब बड़े घरों की स्त्रियां कहतीं कि पानी तो बहुत है। तब मैंने कहा कि एक दिन देहात में चलो। गया के श्री भूपराजा बड़े भावनावाले जमींदार हैं। वह गांधीजी तथा विनोबाजी के बड़े भक्त हैं, लेकिन उनको या उनके घरवालों को यह कल्पना ही कहां थी कि दरअसल कुओं के बिना गांवों में पशु तथा मनुष्यों को कितना कष्ट होता है। मोटर में बैठाकर उन्हें तथा उनके घर-वालों को देहात में ले जाने का कार्यक्रम बनाया। हम जब देहातों में पहुंचे तो उन्होंने देखा कि गरमी में चारों ओर सूखा-ही-सूखा है। गरमी में पशुओं की हड्डियां दिखाई दे रही हैं और बिना पानी और चारे के वे बेहाल हो रहे हैं। पचास घरों में केवल एक कच्चा कुआं था, सो भी बारिश में बन्द हो जाता था। उन्हें हर साल नया खोदना पड़ता। चूना, ईंट, सीमेंट से पक्का

बनाने की उनकी शक्ति कहां थी। यह हाल देखकर बहनों का हृदय पसीज गया। वे बोलीं—"सौ तोले की जगह हम दस तोला सोना पहन लेंगी, लेकिन कुआं बनवायंगी।" फिर गांववालों को इकट्ठा कर उनसे बात की। गांववालों ने कहा कि हम कुआं खोद लेंगे, ईंट बना लेंगे। हमें चूना और सीमेंट आदि ही चाहिए। गांववाले अपने श्रमदान से कुआं बना लेंगे, इसलिए पांचसौ रुपया एक कुएं के लिए मिलने से काम चल जायगा। १०८ कुओं के लिए कम-से-कम पचास हज़ार रुपया होना चाहिए। हवा फैल गई। गया में लक्ष्मीनारायणजी डालमिया रहते हैं। साधु-सन्तों के भक्त हैं। उन्होंने दस तोला सोना दिया और सत्यदेवजी से भी मैंने दस तोला सोना लिया। धीरे-धीरे वहां ३९ कुएं खुदे और ३० के वचन मिले। दूकान पर सीमेंट लेने लगे तो लारीवाले बिना किराए के सामान पहुंचाने लगे, सिर्फ पेट्रोल ही लेते।

विनोबाजी पैदल घूमकर एक महीने में रांची आये और मैं गया से रेल से गई। रांची में भी घर-घर समझाने लगी कि विनोबाजी आवें तो उनको कुओं की भेंट दी जाय। १३।। तोला सोना और तीस कुओं के लिए पांच-पांचसौ के वचन मिले। वर्षा शुरू होने से कुएं बनाने का काम तो कैसे हो सकता था, इसलिए रकम वहीं पंचों के पास रखकर मैं कलकत्ता गई। वहां ६१ कुओं के लिए तीस हज़ार पांचसौ रुपये तथा ४।। तोला सोना मिला। यह रकम खादी-भंडार में जमा करा दी गई। कलकत्ते में सभी लोग परिचित थे। मैं इस तरह घर-घर घूमूं, यह उन्हें कब पसन्द था। वे बोले कि आपको एक-दो जगह से रकम मिल जाय तो काम हो सकता है, फिर इस तरह क्यों घूमती हो? मैं बोली—"मुझे तो स्त्रियों में प्रचार और देश की मांग की जानकारी कराने के लिए घूमना है।" इसलिए घर-घर घूमती रही। जब मैं लेक पर, जहां लोग सवेरे घूमने आते हैं, कुएं मांगने पहुंचती तो घनश्यामदासजी बिड़ला हँसकर कहते, "आज मैयाजी की झोली में कितने कुएं पड़े?" मैं कहती, "आज दो पड़े, आज तो खाली ही है।" मैं उनसे तो क्या मांगती!

एक दिन घनश्यामदासजी बोले, "बिड़ला-पार्क आना।" यों जब भी कलकत्ते जाने का काम पड़ता और वे मिलते तो बुलाते ही रहते। मैं भी

जब कलकत्ता जाती तब मिलने जाया करती। मैं मिलने गई। उस दिन उनसे कई बड़े-बड़े लोग मिलने आये थे और वह काम में बहुत घिरे थे। परन्तु खबर मिलते ही वह एकदम बाहर आकर मेरे पास बैठ गये और प्रेम से पुरानी बातें करने लगे। बोले, "मेरा और जमनालालजी का क्या सम्बन्ध था, यह तुमसे क्या छिपा है।" यह सुनते ही मेरी आंखों में आंसू आ गये। वह भी गम्भीर हो गये। थोड़ी देर बाद बोले, "पांच कुएं तुम्हारी झोली में गिराने है।" मैं बोली, "इतने तो बहुत हैं, एक आदमी का एक कुआं, बस !" वह बोले—"मेरे तीन बेटे और तीन बहुएं हैं। तो छः कुएं ले लो।" तब मैं बोली, "पाणी तो बेटा-बहू ही पीसी। म्हें बिनाइ-पाणी रेस्यां ?" मैं वहां से चली आई। इसके पहले मैंने जुगलकिशोरजी को एक पत्र लिखकर एक कुआं मांगा था। उन्होंने भी पांचसौ रुपये भेज दिये थे।

यों तो कलकत्ते से आने का मेरा मन कम था, वहींपर कुओं का काम करना था, पर गायों के विषय में एक शिष्ट-मंडल जवाहरलालजी के पास जा रहा था, उसमें जाने के लिए मुझे दिल्ली बुलाया गया, इसीलिए मुझे वहां जाना पड़ा।

जब मैं दिल्ली पहुंची तो वहांवालों ने कहा कि यहां कुओं का काम होना मुश्किल है, यहां रोज ही चन्दे हुआ करते हैं। फिर भी मैं बृजकृष्णजी चांदीवाला तथा नन्दलाल मेहता के पीछे पड़ी और मैंने घर-घर फिरना शुरू किया। सवेरे आठ बजे से शाम के आठ बजे तक वही धुन। एक दिन बाबा राघवदासजी बोले, "जवाहरलालजी से कुआं कौन लाये ?" मैंने कहा, "मैं लाऊंगी।" ११ सितम्बर, शुक्रवार को ग्यारह बजे उनसे मिली। उस दिन विनोबाजी का जन्म-दिन था। मैं रामेश्वरीबहन तथा ओम् के साथ पहुंची। जवाहरलालजी पार्लमेंट से आये ही थे। थके हुए थे, मानो सोकर उठे हों। देखकर दया-सी आई और ऐसा लगा कि ऐसे थके हुए से बात कैसे करूं। मगर समय लिया तो बात तो करनी ही थी। मैंने कहा, "आज विनोबाजी का जन्म-दिन है, आपको हंसना पड़ेगा।" वह बोले, "खूब हँसूंगा।" बैठ गये और फिर कूप-दान की बातें चलीं। रामेश्वरीबहन ने कहा कि ये औरतों से जेवर लूटती हैं और इस कार्य में

जोरों से लग गई हैं। उन्होंने वह जेवर देखा, जिसको मैंने विनोवाजी के गले में पहनाया था। फिर मैंने कहा, "भीष्म पितामह को अर्जुन ने पृथ्वी में बाण मारकर पानी पिलाया था, वैसे ही आप तीर मारकर पाताल फोड़िये, जिससे विनोवाजी को पानी-ही-पानी मिल जाय।" वह खूब हँसे। मैंने कहा कि अपने नाम का एक कुआं दीजिये, आपका आशीर्वाद चाहिए, रामेश्वरीवहन ने कहा कि राजघाट की प्रार्थना में आपका संदेशा चाहिए। वह बोले, "मैं भेज दूंगा।" उन्होंने संदेश के साथ एक कुएं का आश्वासन याद करके भेज दिया।

शाम को राजघाट की प्रार्थना में राजेन्द्रबाबू आये। उनका भूदान के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाषण हुआ और उन्होंने कूप-दान की भी महत्ता वताई। मैंने कहा कि आपकी तरफ से एक कुआं छपरे में वन जाय। वह बोले, "एक छपरे में तो कह ही दिया। एक अवोला में भी वन जाय।" इस तरह दो कुओं का दान उनकी ओर से मिला। उन्होंने एक हजार रुपये रामेश्वरीवहन के पास भिजवा दिये। उनके व्याख्यान के वाद मैंने पूछा, "बाबूजी, मैं बोलूं क्या ?" वह बोले, "हां-हां, बोलो।" मैंने कहा, "बाबूजी ने तो वहुत प्रेमपूर्वक गम्भीरता के साथ आपसे कहा है। यह तो संत हैं। मैं तो आपसे वहन के नाते प्रार्थना करती हूं कि आज १०८ कुएं पूरे कर दीजिये।" सवेरे तक ७९ हुए थे, एक जवाहरलालजी का इस तरह ८० हुए। एक आदमी पांच हजार रुपये नगदी दस कुओं के लिए ले आया। एक गुजराती भाई ने ८ कुओं का वचन दिया। इस तरह ९८ हो गये। उम्मीद ही कहां थी कि इतने कुएं हो जायंगे। बाबूजी भी बहुत देर तक बैठे रहे। घर पहुंची तो श्रीमन्‌जी से कहा कि १०७ तो हो गये हैं, एक बाकी है। वह एक गांव में मीटिंग के लिए गये और वहां से करीव ११॥ वजे रात को आये। बारिश हो रही थी। उन्होंने दरवाजा खटखटाकर कहा, "माताजी, एक कुआं आपके लिए ले आया हूं और वह भी दो-ढाई हजारवाला बड़ा।" मेरा जी भर आया। अनुभव किया कि यह बापू और विनोबा के तप का ही फल है कि मेरा संकल्प इस तरह पूरा हुआ।

उन दिनों विनोबाजी कांचन-मुक्ति की बात पर ही जोर देते थे, इस-लिए उन्हें पैसों का आकर्षण तो क्या होता। जब कोई उनको रुपया-पैसा

देता तो वह वापस कर देते। बिहार में भूदान-यज्ञ में किसी बहन ने आकर एक रुपया और दूसरी ने पांच रुपये दिये तो उन्होंने वापस कर दिये। नवादे में जयदयालजी डालमिया की बहन सौ रुपये का नोट लाईं तो वह भी वापस कर दिया। हां, जब बहनें जेवर देतीं तब वह मुझे कूप-दान के लिए सौंप देते। कहते, बहनों का यह सच्चा त्याग है। पर सब बहनें जेवर दें, यह सम्भव कहां था और पैसे तो वह लौटा देते थे। तब क्या किया जाय? रांची में एक बहन ७ तोला सोना और दूसरी पांचसौ रुपये लाईं। मैंने सोचा कि रुपये तो लेंगे कहां, फिर क्या करें? पर एक बार देकर तो देखें। मैं उन बहनों को लेकर गई। विनोबाजी ने रुपये लेकर मेरे हाथ में दे दिये। तब मैंने कहा कि चलो, अच्छा हुआ। रास्ता खुला। इस तरह कूप-दान में रुपये लिये जाने लगे। जब कृष्णदासभाई मिले तो बोले कि आप तो विनोबाजी से भी बढ़कर निकलीं कि उनको पैसा लेना सिखा दिया। विनोबाजी इसीलिए कहा करते हैं कि जानकीबहन 'अपवाद' हैं।

विनोबाजी के पेट में अलसर है। ऊपर से पैदल चलना और भ्रमण करना। खाना बच्चों जितना। डाक्टर लोग हैरान हैं। कहते हैं, हमारी डाक्टरी के अनुसार तो विनोबाजी मर चुके हैं। इन्हें आराम करना चाहिए, दवा लेनी चाहिए। विनोबाजी कहते हैं—आकाश के नीचे भ्रमण करना अमृत-बाण दवा है। लेकिन डाक्टर इस चीज़ को कैसे समझें।

एक बार बातचीत के सिलसिले में विनोबाजी ने कहा कि रेल से आते समय सारे मानपत्र मैंने नदी में डाल दिये। सहसा मेरे मुंह से निकल गया, कौन-सी बड़ी बात करी—खुद ही नदी में पड़ जाते। विनोबाजी एकदम चुप हो गये। मैं भी सोच में पड़ गई। आखिर इसमें भी विद्वानों की विद्वत्ता ही होगी। लेकिन एक बात तो है ही। चांदी और कांच में मढ़े चित्रों की उन्हें क्या परवा?

स्त्रियों की एक सभा में जेवर के त्याग पर मैं बोल रही थी। वैसे मुझे सभाओं में भाषण देने की आदत नहीं है। लेकिन अगर किसी चीज़ के बारे में मुझे श्रद्धा हो गई हो कि वह चीज़ उचित है, तो फिर बोलते समय मैं भाषा की परवा नहीं करती, दिल से बोलती हूं। और मैंने देखा है कि सुनने-

वालों पर उसका असर भी होता है। इस सभा में मेरे भाषण के बाद कई स्त्रियां अपने जेवर उतार-उतारकर देने लगीं। दो-चार बहनों ने सोने की चूड़ियां लाकर दीं। मैंने सोचा, चलो विनोबा को ही यह सोने का दान दे दो। इतने में एक छोटी लड़की, तीन-साढ़े-तीन वर्ष की होगी, कांच की चूड़ी हाथ से निकालकर मां की गोद में बैठे-बैठे देने लगी। मैंने सोचा, यह सोने-चांदी की थोड़े ही है, जो पैसे मिलेंगे। परन्तु मन में भाव आया कि इस बच्ची को तो सोने-चांदी और कांच का भेद थोड़े ही है। दूसरी बहनें दे रही थीं तो इसकी मां ने भी सोचा होगा कुछ देना चाहिए। वातावरण के प्रभाव से वह अछूती थोड़े ही रह सकती थी। मैंने विनोबाजी को वह चूड़ी दिखाकर कहा—"इसे तो अपने पास रखनी चाहिए।" भाई दामोदर की तो आंखों में पानी भर आया इस दृश्य को देखकर !

राजस्थान के दौरे के समय विनोबाजी मेरे पीहर लक्ष्मणगढ़ भी आये। उनके स्वागत के लिए पूरा प्रबंध किया गया। लेकिन गांव की राजनीति के कारण दो दल बन गये। एक दल का कहना था कि विनोबाजी इस रास्ते से जायं, दूसरा कहता—नहीं उस रास्ते से। मैं डर रही थी कि कहीं ये लोग विनोबाजी के सामने उपद्रव न करें। और वही बात हुई। विनोबाजी के गांव में प्रवेश करने के पहले ही दोनों दलों में झगड़ा हो गया। दोनों दलों के नेता आपस में गुथ गये। विनोबाजी को यह सब-कुछ अच्छा नहीं लगा। मैं तो अपराधी की तरह एक तरफ खड़ी रही। अंत में विनोबाजी को भी तनिक रोष हो आया। उन्होंने एक नेता का गुलबंद पकड़कर जबरदस्ती हटाया और कहा—"मैं तुम्हें एक घण्टा देता हूं—आपस में तय करलो, मुझे किधर से जाना है—तभी मैं गांव में जाऊंगा वरन नहीं।" यह कहकर वह पास के पेड़ के नीचे बैठ गये। मैं भी शर्मिन्दा होकर पास ही बैठ गई—उनसे कुछ बोलने की हिम्मत नहीं थी। साथ ही झगड़ा निपटाने की भी सामर्थ्य नहीं थी। थोड़ी देर बाद मैं धीरे-से बोली, "विनोबाजी, मैं सोच रह थी यहां आपका स्वागत कैसे किया जायगा। ३५ वर्ष पहले जब जमनालालजी यहां आये थे तो दामाद का स्वागत गोबर फेंककर किया था। और समधी का स्वागत ऐसे हुआ।"

विनोबाजी ने मेरी ओर देखा और थोड़ा-सा मुस्कराये। मुझे विश्वास

हो गया कि अब उनके मन में तनिक भी रोष नहीं है। लगभग ५० मिनट वहां बैठे रहे, तब जाकर दोनों दलों में समझौता हुआ और विनोबाजी ने गांव में प्रवेश किया।

कालड़ी में श्रीमन्‌जी ने जवाहरलालजी और विनोबाजी की मुलाकात का प्रबन्ध कराया। विनोबाजी दरवाजे पर नेहरूजी की अगवानी के लिए खड़े थे। काफ़ी समय बाद बापू के राजनीतिक और आध्यात्मिक शिष्यों का मिलन होनेवाला था।

नेहरूजी कार में से उतरे। श्रद्धा से हाथ जोड़कर उन्होंने विनोबा का अभिवादन किया। विनोबाजी ने उनके हाथ अपने हाथ में ले लिये। भाव-विह्वल हो गये। आंखों की कोरों से अश्रुधारा बह निकली। हाथ पकड़े ही विनोबाजी नेहरूजी को कमरे में ले गये। मैं खिड़की की दरार में आंखें लगाये देख रही थी। विनोबाजी के आंसू रोके नहीं रुक रहे थे। नेहरूजी भी गुमसुम बैठे थे। कुछ देर बाद उन्होंने रूमाल से अपनी नाक पोंछी। दोनों में से कोई भी बात करने की स्थिति में नहीं था।

हृदय का भार कुछ हलका हुआ तो विनोबा ने बोलना शुरू किया। मर्यादा पुरुषोत्तम की तरह जवाहरलालजी निगाह उठाकर फिर नीचे झुका लेते थे। विनोबा भी बोलते हुए एकटक उनकी ओर ही देखते रहे।

आदत के मुताबिक एक बार जवाहरलालजी के हाथ सिर खुजाने के लिए कान तक उठे और फिर नीचे आ गये। अब दोनों बात कर रहे थे और आमने-सामने देख रहे थे। बातचीत चलती रही। एक घंटे का समय तय हुआ था—पर वहां तो बात की कीमत थी, समय का क्या महत्व था?

इस बीच नंदाजी आ गये। चलते समय नेहरूजी ने पूछा, "रात को समय होगा क्या?" आठ बजे फिर मिलने का तय हुआ।

दामोदर ने कहा, "भरत-मिलाप हो गया।" मेरी भी आंखें भरी हुई थीं। जवाहरलालजी की मोटर गई। जाते समय मैंने नेहरूजी से कहा कि आज तो विनोबा मां स्वरूपरानी की तरह ही रो पड़े।

वह प्रसंग देखकर मुझे वास्तव में मां स्वरूपरानी की याद हो आई। जवाहर उनका एक ही बेटा था। महीनों-बरसों बाद जवाहर घर आते

तो मां बड़े थालों में जवाहर के लिए खाने की चीज़ें सजाकर रखतीं, पर बेटे को देखते ही रोना शुरू हो जाता—जाने कब चला जायगा। थाल वैसे ही रखा रहता। मां सोचती—बेटा खाना शुरू करे। बेटा सोचता—मां चुप हो ले तो पहले उसके मुंह में डालूं, फिर खाऊं।

: ४५ :

'पद्मविभूषण' की कहानी

जब मैं कूपदान के लिए कलकत्ता में प्रयत्न कर रही थी तब भागीरथ कनोडिया बोले कि आपको यदि सरकार 'पद्मविभूषण' की पदवी दे तो ले तो लेंगी ? आपपर विनोबाजी का प्रभाव है। सो पदवी मिलने पर कहीं 'ना' तो न कर देंगी ?

मैंने इसमें कोई दिलचस्पी नहीं बताई, क्योंकि मुझे न तो इस बात में कुछ सार ही लगा और न ही इस विषय की कुछ जानकारी ही थी। मन में यही भावना थी कि यह असम्भव-सी बात है।

कुछ दिन बीते, मैं तो उस बात को भूल ही गई थी; पर बम्बई में कमल ने एक दिन इस बात की चर्चा की। उसे पू० राजेन्द्रबाबू का पत्र आया था, जो उसने मुझे पढ़कर सुनाया। मैंने कहा, "बाबूजी व पंडितजी तो महान् हैं। वे तो सबको सम्मान देकर बड़ा ही बनाना चाहते हैं, लेकिन मैं उस योग्य कहां हूं। तेरे काकाजी की बात तो अलग थी, उन्हें अंगरेज़ सरकार ने राय-बहादुर की पदवी दी थी; पर उन्होंने तो उसे वापस भी कर दिया था। हां, उसमें फर्क तो जरूर है। वह पदवी तो विदेशी सरकार अपनेको गुलाम बनाने के लिए देती थी। वह किसी स्वाभिमानी पुरुष के लिए शोभनीय नहीं हो सकती, पर आज तो यह अपनी सरकार की ओर से पदवियां दी जाती हैं। सरकार में अपने बुजुर्ग और अपने लोग ही हैं। पर मुझसे विशेष सेवा तो कहां बन पड़ती है। सबकुछ छोड़-छाड़ देने के बाद भी घरवाले और घर का मोह तो बना हुआ ही है। इसलिए जो निःस्वार्थ सेवा करते हैं, उन्हींको सम्मान मिलना चाहिए।"

इसपर कमल बोला, "पूज्य बाबूजी व पंडितजी यह सब सोचने के बाद ही तो सम्मानित करेंगे। वे जो कुछ करते हैं, वह सोच-समझकर ही

तो करते हैं। उसमें अपनेको या और किसीको कहने के लिए क्या रह जाता है।"

फिर मैंने उससे पूछा कि पदवी का नाम क्या है और वह किस तरह की पदवी है।

कमल ने कहा कि उसे 'पद्मविभूषण' कहते हैं और राष्ट्रपतिजो देश में सेवा करनेवालों को इस पदवी को देकर सम्मानित करते हैं। पिछले साल आशादेवी को भी इसी तरह की पदवी दी गई थी, पर सर्व-सेवा-संघ में होने से उन्होंने स्वीकृति देने में लाचारी बताई थी।

मैंने कहा, "हां, यह बात तो मैं जानती हूं, पर यह मेरे नाम के आगे कैसे शोभा देगी ?"

कमल ने कहा, "यह आवश्यक थोड़े ही है कि उसे सदा नाम के साथ लगाया जाय।"

मुझे विचार आया कि कहीं मुझे घमंड या मोह तो नहीं हो जायगा। मैंने अपना यह डर भी कमल को बताया। वह बोला, "जब तुमने सबकुछ अर्पण कर रखा है तो इसका क्या मोह होगा ? ऐसी कमजोरी मन में क्यों आने देनी चाहिए।"

मैं कुछ देर तक सोचती रही और कमल से बोली, "बाबूजी और पंडितजी जो कुछ करें, उन्हें 'ना' कैसे कहा जा सकता है ?"

कमल बोला, "यह 'ना' बोलना भी एक तरह का घमंड हो सकता है।"

मैं बोली, "तेरे काकाजी बाबूजी को हमेशा अपने बड़े भाई के समान मानते थे। वह अपने घर के बड़े आदमी हैं, उनकी भावना का आदर करना ही योग्य है। मैं असमंजस में पड़ गई हूं, एक ओर तो अपनेको इस सम्मान के योग्य नहीं मानती और दूसरी ओर बाबूजी, पंडितजी जैसों की भावना। उनकी इच्छा अपने लिए आशीर्वाद ही है। फिर भी, मेरे जीवन की उन्नति की दृष्टि से या मुझसे अधिक सेवा हो सके, इसलिए वे जो उचित समझें वही करें। उनका आशीर्वाद तो हर हालत में अपने साथ ही है। वे जो कुछ करेंगे, उसमें मुझे संतोष ही है।"

यद्यपि पू० विनोबाजी का प्रभाव तो मुझपर है ही, पर वे मुझे अपवाद

कहा करते हैं। इसलिए इस विषय में भी अपनेको अपवाद माना। फिर भी, मुझे कमल की चर्चा से भी ऐसा नहीं लगा कि मुझे पदवी मिलेगी ही। कुछ समय और बीत गया।

१५ अगस्त, १९५६ को मैं वर्धा थी। महिलाश्रम की लड़कियां और शान्ताबहन मेरे हाथ से झंडा चढ़ाना चाहती थीं। मैं वहां गई। प्रथम कताई का कार्यक्रम हुआ। कताई कर हम सब झंडे के मैदान में आये। इतने में थत्तेजी रेडियो सुनकर आये और बोले कि मैं एक खुशखबरी सुनाता हूं। माताजी को राष्ट्रपतिजी ने 'पद्मविभूषण' की पदवी से विभूषित किया है।

यह सुनकर लड़कियां और शान्ताबाई को बहुत खुशी हुई। मेरे मन में भी खुशी हुई, पर खुशी प्रकट करने में शरम मालूम होने लगी। अचरज भी हुआ और इस विचार से आंख में आंसू आ गये कि वास्तव में मैं इस योग्य नहीं हूं। यह पदवी तो जमनालालजी के लिए ही योग्य थी, मैं तो उनके सामने इस योग्य कहां हूं ?

पर इस पदवी ने मेरे पीहर में तो रोना-पीटना मचा दिया था। मेरे भाई रेडियो सुन रहे थे। जब यह सुना कि जानकीदेवी बजाज पद्मविभूषण हुई तो वे समझे परमपद हुई। मेरे भाई रामानुज सम्प्रदाय के होने से मृत्यु के लिए परमपद शब्द का उपयोग करते हैं। यह सुनते ही वे हक्के-बक्के रह गये। हमारे परिवार के वैदजी से किसीने पूछा कि चिरंजीलालजी जाजोदिया की बहन की मृत्यु हो गई, वहां बैठने गये थे क्या ? तब वैदजी को अचरज हुआ, वे बोले कल रात को ही तो राष्ट्रपतिजी ने उन्हें पद्मविभूषण की पदवी दी और आज यह क्या हो गया ? वे घर आये और पूछने लगे कि भाईजी, खबर कब आई ? तब मेरे भाई बोले कि कल रात को रेडियो पर सुना था। वैदजी बोले कि भाईजी, बाई को तो पद्मविभूषण की पदवी दी है। उसकी खबर थी, आपने गलत समझ लिया। फिर भी भाई को विश्वास नहीं हुआ। जब अखबार मंगाकर देखा तब उनकी चिन्ता दूर हुई।

: ४६ :

उपसंहार

मेरी कथा पूरी हुई, पर जीवन-यात्रा अभी जारी है। नौ बरस की उमर में जावरे से वर्धा अपरिचितों के बीच रहने गई। छोटी-सी कच्ची उमर में ही माता-पिता से जो संस्कार मिल सके, उनको लेकर ससुराल गई। जब होश सम्भाला तो सास और दादा-ससुर का साया उठ चुका था। जमनालालजी से सम्पर्क और परिचय बढ़ने लगा और उन्होंने मेरा जीवन अपने विचारों के अनुकूल ढालना शुरू कर दिया। जो बात अच्छी होती थी, उस ओर इशारा-मात्र कर देते थे। इस प्रकार जीवन चल रहा था कि गांधीजी आये। उन्होंने तो हमारे जीवन में तूफान की तरह प्रवेश किया। सारा जीवन बदल गया। उसके बाद विनोबाजी से परिचय और सम्पर्क बढ़ा। इस प्रकार मेरा जीवन आज जो कुछ है, वह माता-पिता के संस्कारों के अलावा जमनालालजी, बापूजी और विनोबाजी का बनाया हुआ है। बापूजी को तो अपनी जीवन-साधना करने में प्रयत्न करना पड़ा था। उन्होंने नियम से, दृढ़ता से, परिश्रम से अपना जीवन साधा। विनोबा के लिए सब सहज है। इस प्रकार इन तीन साधकों और महापुरुषों के निकट-सम्पर्क में रहकर और अपनी शक्ति-भर प्रयत्न करते रहने पर जैसी मैं बनी और हूं, उसकी झलक इस पुस्तक में है।

रह-रहकर मेरे मन में यह विचार उठता है कि यह कथा क्या किसीके काम की होगी भी ? लोग इसमें से क्या लेंगे ? मेरे पोते-पोती तो इसे. जब यह लेख-माला के रूप में निकल रही थी, पढ़कर इसके कुछ प्रसंगों की हँसी उड़ाया करते थे। मेरे बड़े पोते राहुल ने तो एक दिन बचपन की मेरी उस घटना का जिक्र करते हुए, जबकि मेरी सास ने मुझे व जमनालालजी को एक कमरे में सुलाया था और जमनालालजी ने मेरे पैर में चिकोटी

काटी थी, पूछा, "दादीजी, आप तो सो गई थीं। आपको कैसे पता चला कि दादाजी ने चिकोटी काटी ?" मैंने उससे कहा, "अरे राममार्या, तूने और भी कुछ पढ़ा या इसीपर ध्यान गया ?" इस तरह मुझे शंका ही है कि यह किसीके कुछ मतलब की होगी भी ? दुनिया में पढ़ने और मनन करने को इतना पड़ा है तो उसमें और कोरे कागजों को काला करके कूड़ा क्यों बढ़ाया जाय? पर कई ऐसे भाइयों की तरफ से, जो इस प्रकार के संस्मरणों में दिलचस्पी रखते हैं और अच्छा समझते हैं, सूचना आई कि इन्हें पुस्तक का रूप देना चाहिए। कुछका विशेप आग्रह भी हुआ। हारकर, मैं इसके लिए तैयार हो गई।

मेरे जीवन पर जिन तीन महापुरुषों को गहरी छाप पड़ी। उनमें जमनालालजी और बापूजी तो अब चले गये। विनोबाजी हैं। पर वह तो छोटे भाई के जैसे लगते हैं। उनके पास तो मैं निस्संकोच ही पहुंच जाती हूं। बापूजी के सामने जाने में डर-सा लगता था। उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जमनालालजी ने उनको पिता माना था, सो मैंने भी अन्तःकरण के किसी कोने में उनको ससुर-सा समझकर उनका डर बसा लिया हो। जमनालालजी से तो उनके कामों को लेकर एक प्रकार की ईर्ष्या-सी होती थी। उनसे लड़-झगड़ भी लेती थी। उनको राजी रखने का भी प्रयत्न करती थी, पर इन दोनों के चले जाने से एक अभाव-सा, रीतापन-सा महसूस होता है। पर उन दोनों की मृत्यु के समय, उनके विचारों में पली होने के कारण, धीरज रख सकी। मुझे अन्दर से काम करने की प्रेरणा होती है, उत्साह भी है। पर कोई हाथ पकड़कर काम करा ले, ऐसा मन में होता रहता है। विनोबाजी के भूदान में, कूपदान में, मन लगता है, अच्छा भी लगता है, काम भी करती रहती हूं, पर मन की शांति तो कुछ और ही चीज़ है। शक्ति भी अब शरीर में दिन-पर-दिन कम ही होती जाती है, लेकिन रह-रहकर यह बात मन में आती है कि कोई खींचकर काम करा ले।

जब काम-काज में लग जाती हूं, घूमती रहती हूं तब घर के लोगों को भूली-सी रहती हूं। पहले भी यही हाल था। अब भी यही है। पर जब परिवार के बीच रह जाती हूं तो फंस जाती हूं। यों सब लड़के, लड़कियां, दामाद सुखी हैं, अपने-अपने काम-धन्धे में लगे हैं। अपनी शक्ति और सामर्थ्य

के अनुसार सब सेवा-कार्य भी करते ही हैं। यह मेरे लिए सन्तोष-प्रद है। थोड़ी-बहुत चिन्ता है तो वह कमल और मदालसा के स्वास्थ्य की। मदालसा ने तो श्री महावीरप्रसादजी पोद्दार द्वारा संचालित प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र में रहकर कुछ चिकित्सा कराई भी है और वह वहां अधिक रह पाती तो मेरा विश्वास है कि अच्छी भी हो गई होती।

कमलनयन अपना जीवन ज़रा नियमित बनाले, कुछ व्यायाम और खान-पान में नियमित बने तो उसका स्वास्थ्य भी ठीक हो जाय। पर वह किसीकी सुने तब न ! जो उसे ठीक जंचता है, वही करता रहता है।

मेरी अपनी तबीयत जब कभी खराब होती है तो मैं तो अपनेको इलाज और दवा-दारू के मामले में महावीरप्रसादजी पोद्दार और राधाकृष्ण के हाथ में सौंप देती हूं। पोद्दारजी की तो बातों से ही आधी बीमारी दूर हो जाती है। राधाकृष्ण कभी-कदास पास होने पर अपने होम्योपैथी के बक्स में से ४-६ गोलियां दे देता है और उससे आराम भी मिलता है। पर मुझे प्राकृतिक चिकित्सा पर पूरी श्रद्धा है। आंवले को मैं अमृत-तुल्य मानती हूं और उसे बांटती रहती हूं।

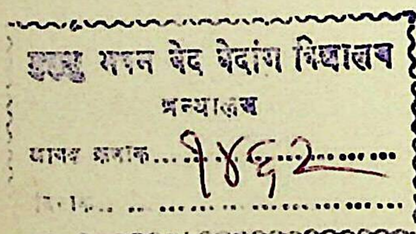
कभी वर्धा, कभी दिल्ली, कभी बम्बई और कभी विनोबाजी के साथ घूमती रहती हूं। सबसे ज्यादा सन्तोष मुझे विनोबाजी के पास मिलता है। बम्बई में तो मेरे आकर्षण का केन्द्र मेरी तीन सहेलियां—श्रीमती शारदा-देवी बिड़ला, सरस्वतीदेवी गाड़ोदिया और शांतीबाई पित्ती हैं। यों विचारों में हम सब भिन्न हैं, पर बम्बई में जहां कोई सभा-सम्मेलन हो, कथा-कीर्तन हो या तालाबों में नहाने जाना हो तो हम चारों इकट्ठी हो जाती हैं। पर इस मण्डली में घूमते-घामते भी, खादी, प्राकृतिक-चिकित्सा, गो-सेवा और सबसे ज्यादा कूपदान में अपनी शक्तिभर कोशिश करती रहती हूं। साथ ही, बापूजी और जमनालालजी की आत्मा से सदा यह आशीर्वाद मांगती रहती हूं कि इस चोले से जितनी सेवा हो सके, करते रहने की प्रेरणा वह देती रहें।

बहुत दिनों पहले मैंने प्रार्थना-स्वरूप कुछ तुकबन्दियां रची थीं। कविता करना मैं क्या जानूं ! पर मन में जो भाव आये, वे उल्टे-सीधे जोड़ लिये थे। इन पंक्तियों के साथ यह कथा समाप्त करती हूं :

हे परम सृष्टि-करतार,
मानूं मैं तेरा उपकार !
दिया पति मुझको अपन समान
दिये सब साधन औ' सब साज
धाम, धन, बुद्धि, कुटुम्ब, समाज
कभी क्यों दया-धरम की की ?
बनाओ मेरा हृदय उदार,
हे परम सृष्टि-करतार।
रूप बिन खूब बचाई जी
रूप बिन खूब सम्भाली जी
मिलता जो यदि रूप तो मैं
आकाश में उड़ती जी
किया तुमने मेरा उपकार,
हे परम सृष्टि-करतार ॥
संगति गांधी अलबेले की
लाज बचाई इस मेले की
अन्त में की कैसी खिलवार
बताओ दुनिया के रचनार।
हे परम सृष्टि-करतार ॥
लगाई तुमने दारुण चोट
दूर करने को मेरी खोट
जगाने को अथवा हे देव,
छुड़ाने को ममता की देव ?
तुम्हारी माया अपरम्पार,
हे परम सृष्टि-करतार।
मानूं मैं तेरा उपकार ॥

●

अनुक्रमणिका



'मंडल' से प्रकाशित

आत्मकथा साहित्य



साढ़े तीन रुपये